श्रीकृतार्थकौशिकम्

पं० श्रीकृष्ण जोशी

भूमिका—
डा० (श्रीमती) उषा सत्यव्रत
(माडर्न कालेज फ़ार वीमेन, दिल्ली)

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ

श्रीकृतार्थकौशिकम्

पं० श्रीकृष्ण जोशी

भूमिका—

डा० (श्रीमती) उषा सत्यव्रत
(माडर्न कालेज फ़ार वीमेन, दिल्ली)

प्रकाशक—

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्,
महात्मा गांधी मार्ग, हज़रतगंज,
लखनऊ—२२६००१

मूल्यम् १०.०० रु०
१९७५

मुद्रक—

इण्डस्ट्रियल प्रिंटिंग वर्क्स,
२७३, रानीगंज
लखनऊ—२२६००४
फ़ोन नं०—२६४१०

प्रकाशकीय

'श्रीकृतार्थकौशिकम्' नामक नाटक के रचयिता विद्वद्वर पं० श्रीकृष्ण जोशी जी से मेरा परिचय सर्व प्रथम मई या जून १९५६ ई० में हुआ था। उन दिनों वे नैनीताल में अपने चीनाखान स्थित भवन में रह रहे थे और वहीं उनका विशाल पुस्तकालय भी था, जिसमें उन्होंने अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित (प्राचीन हस्तलिखित) ग्रन्थ सङ्गृहीत कर रखे थे। नैनीताल उन दिनों उत्तर प्रदेश की ग्रीष्म राजधानी था। मैं उन्हीं दिनों यहां की हिन्दी-शब्द-कोश समिति का सचिव था और ग्रीष्मारम्भ होते ही प्रादेशिक सचिवालय के अनेक अन्य बिभागीय कार्यालयों के साथ मैं भी अपने कार्यालय को लेकर वहां चला जाया करता था। प्रतिवर्ष गर्मियों में मेरे नैनीताल रहते अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ की ओर से कम से कम एक साहित्य गोष्ठी, जो उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री और परिषद् के संस्थापक प्रवर डा० सम्पूर्णानन्द जी के नैनीताल-स्थित निवास-स्थान पर ही हुआ करती थी, वहां अवश्य हो जाती थी और उसके आयोजन का पूरा भार मेरे ही ऊपर रहता था। पं श्रीकृष्ण जोशी जी से मेरा परिचय, जो धीरे धीरे घनिष्ठता में परिणत हो गया, इसी सिलसिले में हुआ था। पारस्परिक परिचयानन्तर मैं उन्हें बराबर परिषद् की बात बतलाया करता था और इससे वे परिषद् से भी पूर्णतया परिचित हो गये थे और उसके कार्यकलाप से प्रभावित भी थे।

जोशी जी संस्कृत के उत्कृष्ट कवि और नाटककार तथा भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के अच्छे ज्ञाता थे। इसके साथ ही वे उद्‌भट लेखक भी थे। उन्होंने २० से ऊपर ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें से अनेक महाकाव्य और नाटक भी थे, किन्तु प्रकाशित इनमें से तीन-चार रचनाएं ही हो पायी थीं। शेष के प्रकाशन के विषय में वे काफी चिन्तित रहते थे। १९५८ में उन्होंने अपनी समस्त अप्रकाशित रचनाएं परिषद् को दान कर दीं और दान करते समय कहा कि यदि परिषद् इनमें से एक-दो को भी प्रकाशित कर सकेगी तो मुझे प्रसन्नता होगी। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मैं चाहता हूं कि मेरी किसी भी कृति में कोई कलम न लगाये, शुद्ध अशुद्ध जो जैसी भी हो वह वैसी ही छाप दी जाय। मैंने इस बात को स्वीकार तो नहीं किया; किन्तु स्पष्ट शब्दों में उसका प्रत्याख्यान करने के लिए साहस भी नहीं बटोर सका। वे जीवित रहते तो हम उनकी बात शायद न भी मानते; किन्तु अब जब वे दिवंगत हो चुके हैं तब परिषद् ने यही उचित समझा कि कम से कम उनकी कृतियों के इस प्रथम प्रकाशन में उनकी बात मान ही ली जाय। यही कारण है कि प्रस्तुत पुस्तक

प्रकाशक—
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्,
महात्मा गांधी मार्ग, हज़रतगंज,
लखनऊ–२२६००१

मूल्यम् १०.०० रु०
१९७५

मुद्रक—
इण्डस्ट्रियल प्रिंटिंग वर्क्स,
२७३, रानीगंज
लखनऊ–२२६००४
फ़ोन नं०–२६४१०

प्रकाशकीय

'श्रीकृतार्थकौशिकम्' नामक नाटक के रचयिता विद्वद्वर पं० श्रीकृष्ण जोशी जी से मेरा परिचय सर्व प्रथम मई या जून १९५६ ई० में हुआ था। उन दिनों वे नैनीताल में अपने चीनाखान स्थित भवन में रह रहे थे और वहीं उनका विशाल पुस्तकालय भी था, जिसमें उन्होंने अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित (प्राचीन हस्तलिखित) ग्रन्थ सङ्गृहीत कर रखे थे। नैनीताल उन दिनों उत्तर प्रदेश की ग्रीष्म राजधानी था। मैं उन्हीं दिनों यहां की हिन्दी-शब्द-कोश समिति का सचिव था और ग्रीष्मारम्भ होते ही प्रादेशिक सचिवालय के अनेक अन्य बिभागीय कार्यालयों के साथ मैं भी अपने कार्यालय को लेकर वहां चला जाया करता था। प्रतिवर्ष गर्मियों में मेरे नैनीताल रहते अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ की ओर से कम से कम एक साहित्य गोष्ठी, जो उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री और परिषद् के संस्थापक प्रवर डा० सम्पूर्णानन्द जी के नैनीताल-स्थित निवास-स्थान पर ही हुआ करती थी, वहां अवश्य हो जाती थी और उसके आयोजन का पूरा भार मेरे ही ऊपर रहता था। पं श्रीकृष्ण जोशी जी से मेरा परिचय, जो धीरे धीरे घनिष्ठता में परिणत हो गया, इसी सिलसिले में हुआ था। पारस्परिक परिचयानन्तर मैं उन्हें बराबर परिषद् की वात बतलाया करता था और इससे वे परिखद् से भी पूर्णतया परिचिन हो गये थे और उसके कार्यकलाप से प्रभावित भी थे।

जोशी जी संस्कृत के उत्कृष्ट कवि और नाटककार तथा भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के अच्छे ज्ञाता थे। इसके साथ ही वे उद्‌भट लेखक भी थे। उन्होंने २० से ऊपर ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें से अनेक महाकाव्य और नाटक भी थे, किन्तु प्रकाशित इनमें से तीन-चार रचनाएं ही हो पायी थीं। शेष के प्रकाशन के विषय में वे काफी चिन्तित रहते थे। १९५८ में उन्होंने अपनी समस्त अप्रकाशित रचनाएं परिषद् को दान कर दीं और दान करते समय कहा कि यदि परिषद् इनमें से एक-दो को भी प्रकाशित कर सकेगी तो मुझे प्रसन्नता होगी। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मैं चाहता हूं कि मेरी किसी भी कृति में कोई कलम न लगाये, शुद्ध अशुद्ध जो जैसी भी हो वह वैसी ही छाप दी जाय। मैंने इस वात को स्वीकार तो नहीं किया; किन्तु स्पष्ट शब्दों में उसका प्रत्याख्यान करने के लिए साहस भी नहीं बटोर सका। वे जीवित रहते तो हम उनकी बात शायद न भी मानते; किन्तु अब जव वे दिवंगत हो चुके हैं तब परिषद् ने यही उचित समझा कि कम से कम उनकी कृतियों के इस प्रथम प्रकाशन में उनकी वात मान ही ली जाय। यही कारण है कि प्रस्तुत पुस्तक

असम्पादित ही प्रकाशित की जा रही है, और समस्त अशुद्धियां, जो बहुत नही हैं, ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं। आशा है पाठक इसके लिए हमें क्षमा करेंगे।

परिषद् के 'सुधाभोजनम्' नामक अभिनव प्रकाकन-सम्बन्धी अपने वक्तव्य में हमने कहा था कि 'संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन की दिशा में अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ का ध्यान इसके पूर्व केवल प्राचीन ग्रन्थों, उनके अनुवादों और उनपर लिखी गयी टीकाओं आदि की ही ओर था, यद्यपि इधर बहुत दिनों से वह इस प्रयत्न में भी थी कि रचनात्मक या सर्जनात्मक नूतन साहित्य के प्रकाशन की ओर भी कुछ अग्रसर हुआ जाय। उस दिशा में प्रस्तुत पुस्तिका का प्रकाशन परिषद् का प्रथम प्रयास है।' इस 'कृतार्थकौशिकम्' नाटक को प्रकाशित करते हुए हमें दोहरी प्रसन्नता हो रही है—एक तो, इसलिए कि इसके द्वारा हम रचनात्मक या सर्जनात्मक नूतन साहित्य के प्रकाशन की दिशा में कुछ और आगे बढ़ सके हैं और दूसरे, इसलिए भी कि जिस आशा से दिवंगत जोशी जी ने हमें अपनी समस्त अप्रकाशित कृतियां सौंप दी थीं उसकी, इतने दिनों बाद ही सही, आंशिक पूर्ति हो रही है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के अर्वाचीन महिला कालेज (माडर्न कालेज फार वीमेन) की संस्कृत-प्राध्यापिका डा० (श्रीमती) उषा सत्यव्रत द्वारा लिखी गयी भूमिका ने इस प्रकाशन की उपादेयता और सौष्ठव को और भी बढ़ा दिया है। इसके लिए परिषद् हृदय से उनकी कृतज्ञ है।

गोपाल चन्द्र सिंह
मन्त्री
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
लखनऊ

श्रावणी, संवत् २०३२ वि०

भूमिका

नाटककार का जीवन-वृत्तान्त

विद्याभूषण पण्डित श्रीकृष्ण जोशी जी इस शतक के संस्कृत के उच्चकोटि के साहित्यकार थे। इनका जन्म १८८२ ईस्वी सन् में हुआ था और देहावसान ८ जून १९६५ को। यह अल्मोड़ा निवासी पण्डित बद्रीनाथ जी के सुपुत्र थे। इनके कुल में अनेक यशस्वी विद्वान् तथा कवि हुए हैं। अतः संस्कृत और संस्कृति उन्हें अपने पूर्व पुरुषों से ही उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। इन्होंने प्रयाग के म्यूअर सेंण्ट्रल कालेज से बी० ए० तथा एल-एल० बी० की उपाधियां प्राप्त की थीं। यह कुशाग्र-बुद्धि थे। अतः अध्ययनकाल में यह सर्वदा प्रथम स्थान पाते रहे। इन्होंने अपनी विशेष उपलब्धियों के लिए अनेक स्वर्णपदक प्राप्त किए थे। यह कुमाऊं के प्रमुख वकीलों में थे।

ब्रिटिश शासन काल में जोशी जी ने वंगभंग आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था। परन्तु महात्मा मदनमोहन मालवीय जी के आग्रह पर यह वकालत तथा राजनीति का त्याग करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगे।

श्री जोशी जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। यह लब्धप्रतिष्ठ कवि, सुविख्यात ज्योतिषी तथा प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य, दर्शन, व्याकरण, वेद वेदाङ्गों के प्रकाण्ड पण्डित थे। यह अत्यन्त विनम्र, सरल हृदय, उदार और विनोदप्रिय थे। यह विद्याव्यसनी थे। वृद्धावस्था में भी यह साहित्य-साधना में सतत तल्लीन रहे। इन्होंने अनेक नाटक, काव्य, धार्मिक स्तोत्र तथा अन्य ग्रन्थ लिखें हैं। इनके ग्रन्थों में 'रामरसायनमहाकाव्यम्', 'स्वमन्तकम् महाकाव्यम्' 'अखण्ड-भारतम्', 'परशुरामचरितम् नाटकम्,' 'काव्यमीमांसाशास्त्रम्,' 'सत्यसावित्रीनाटकम्,' 'सर्वदर्शन-मञ्जूषा,' 'अद्वैतवेदान्तदर्शनम्' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके 'गङ्गामहिम्न', 'राममहिम्न,' अन्तर-ङ्गमीमांसा' नामक ग्रन्थ इनके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गये थे। इनमें से 'अन्तरङ्गमी-मांसा' नामक ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ उत्तर प्रदेश शासन ने १५००) रूपये की सहायता भी कीथी; तथापि इनकी बहुत सी श्लाघनीय कृतियां अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

नाटक का महत्व

संस्कृत-साहित्य-प्रेमियों के लिए यह सौभाग्य तथा आनन्द का विषय है कि अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ पण्डितप्रवर श्रीकृष्ण जोशी जी के विलक्षण नाटक 'श्रीकृतार्थकौशिकम्' को प्रकाशित कर के सहृदयों के रसास्वादन के लिए प्रस्तुत कर रही है। इसके लिए परिषद् धन्यवाद की पात्र है।

'श्रीकृतार्थकौशिकम्' संस्कृत के अभिनव-नाट्य-साहित्य-कोश की बहुमूल्य मणि है। यह नाटककार की प्रौढ़ कृति है। यह नाटक हमारे सम्मुख वैदिककालीन भारत की स्वर्णिम झांकी प्रस्तुत करता है। इसमें नाटककार ने अपनी कल्पना से तत्कालीन भारत के वातावरण संस्कृति तथा राजनीतिक दशा का भव्य चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटक का विवेच्य विषय है—आर्य संस्कृति की गरिमा। आर्यों तथा दस्युओं के संघर्ष का चित्रण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। नाटककार ने अतीत की गुहा में निहित तथा प्राच्य साहित्य में चित्रित इस महत्वपूर्ण विषय को अपनी कल्पना से पुनरुज्जीवित करके उसे अपने नाटक की कथावस्तु का रूप दिया है तथा उसमें अपनी काव्य प्रतिभा से आधुनिकता का रंग भी भर दिया है। महाराज गाधि तथा विश्वामित्र के चरित्र हमें सहसा महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहर लाल नेहरू की स्मृति दिलाते हैं। प्रस्तुत नाटक में वैदिक आर्यों के गौरव तथा उनकी सांस्कृतिक महिमा का स्वर स्थान-स्थान पर सुनाई पड़ता है। आर्यजन आक्रान्ता दस्युओं से आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए पारस्परिक विद्वेष को भूलकर एकत्रित तथा संगठित होकर रहें—यही महान् संदेश प्रस्तुत नाटक में प्रोद्घोषित किया गया है। अपने समय में विदेशियों से आक्रान्त भारतीयों को प्रोत्साहित करने के लिए उनमें संगठन की भावना को उद्बुद्ध करने के लिए, उन्हें गौरवमय अतीत की स्मृति दिलाने के लिए, नाटककार ने 'कृतार्थकौशिकम्' में आर्यों की उज्ज्वल संस्कृति तथा उनकी एकता की भावना का चित्रण किया है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व के वैदिकयुगीन वातावरण को चित्रित करते हुए भी अपने युग की आवश्यकता के सर्वथा अनुकूल और सामयिक है।

नाटक की कथावस्तु

महाराज गाधि भरतों के शिरोमणि सम्राट् हैं। उनके राज्य में स्थिरता तथा शान्ति है, परन्तु वे आक्रान्ता दस्युओं से चिन्तित हैं। वे सभी आर्य सम्राटों तथा सामन्तों को, चाहे वे उनके विरोधी ही क्यों न हों, दस्युओं के उन्मूलन के लिए संगठित करना चाहते हैं। उनकी सत्यवती नाम की एक कन्या है। उन्हें उसके विवाह की भी चिन्ता है। आथर्वण और्व, जो आर्य है, उनके देश पर आक्रमण करता है, परन्तु वह जीवित बन्दी बना लिया जाता है। सत्यवती और्व पर मुग्ध है और उससे विवाह करना चाहती है। महाराज गाधि के आदेश से स्वयंवर का आयोजन होता है जिसमें सत्यवती खेल आदि अन्य राजाओं को छोड़कर आथर्वण और्व को ही अपना वर चुनती है। महाराज गाधि आर्यों के संगठन तथा दस्युओं

के विद्रावण के उद्‌देश्य से विरोधी आर्य और्व के साथ भी सत्यवती के विवाह का अनुमोदन करते हैं। वे आक्रान्ता और्व को अपना जामाता देखकर प्रसन्न है, क्योंकि वह वीर है और उसकी सहायता से दस्युओं को देश से निष्कासित किया जा सकता है। वृद्धावस्था में महाराज गाधि के एक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका नाम विश्वमित्र रखा जाता है। नाम के अनुरूप वह सबका मित्र है, किसी का अहितकारी नहीं। महाराज गाधि की मृत्यु हो जाती है और शिशु विश्वमित्र की देखभाल सत्यवती तथा और्व करते हैं। वह अगस्त्य के आश्रम में अपनी शिक्षा पूर्ण करके दिव्य अस्त्र प्राप्त करता है। कालान्तर में आर्यों तथा दस्युओं में संघर्ष बढ़ जाता है और दस्यु अवसर पाकर विश्वमित्र तथा उसके सहचर ऋक्ष को पकड़कर ले जाते हैं। वहां दस्युराज की पुत्री राजकुमारी उग्रा विश्वमित्र पर मुग्ध हो जाती है और उससे विवाह करना चाहती है; परन्तु विश्वमित्र उसके निर्व्याज अगाध प्रेम से प्रभावित होकर भी उससे विवाह करना स्वीकार नहीं करते हैं। दस्युकन्या अपने को विश्वमित्र के योग्य सिद्ध करने का प्रयत्न करती है, परन्तु निराश हो जाने पर विरह वेदना को सहन न करती हुई मरणासन्न हो जाती है। प्रकृति से दयालु तथा कोमल विश्वमित्र दस्युकन्या के प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से उससे विवाह करने के लिए सहमत हो जाता है। उधर अगस्त्य आर्यसेना को लेकर दस्युदल पर भयङ्कर आक्रमण करते हैं क्योंकि वे विश्वमित्र को दस्युओं के बन्धन से मुक्त करना चाहते हैं। दस्युराज शम्बर अपने सेनापति भैरव को दुर्ग का रक्षक नियुक्त कर युद्ध भूमि में उतर आता है। वहां वह बुरी तरह क्षतविक्षत हो जाता है, किन्तु आर्य भारद्वाज की पुत्री लोपामुद्रा उसकी परिचर्या करके उसे मृत्यु से बचा लेती है। दस्युराज शम्बर की अनुपस्थिति में दुर्ग का रक्षक भैरव अपने इष्टदेव बंभैरव के आगे बन्दी विश्वमित्र की वलि देकर उसकी हत्या करना चाहता है। दस्युकन्या उग्रा अपने प्रियतम विश्वमित्र के जीवन की रक्षा के लिए दुर्ग के गुप्त द्वार से बाहर जाकर अगस्त्य तथा आर्य सैनिकों को दुर्ग के अन्दर ले आती है। वहां आर्य सेना दस्युओं का ध्वंस कर देती है। विश्वमित्र बन्धनमुक्त होता है। दस्युकन्या की सहायता से प्रसन्न होकर अगस्त्य, वशिष्ठ आदि उसे विश्वमित्र से विवाह करने की अनुमति दे देते हैं, परन्तु जब विश्वमित्र राजधानी को लौटता है तो प्रजा दस्युकन्या के विवाह का विरोध करती है। प्रजा चाहती है कि विश्वमित्र उग्रा को छोड़ दे और वह अगस्त्य की दासी बनकर रहे। उग्रा अन्तर्वर्तिनी है और विश्वमित्र की विधिपूर्वक भार्या बन चुनी है। विश्वमित्र अपने निश्चय पर दृढ़ है। वह राज्य सिंहासन का त्याग करने के लिए सहर्ष उद्यत है परन्तु शम्बर कन्या उग्रा का भी त्याग उसे सहन नहीं है। उसी समय सहसा कोलाहल होता है कि दस्युकन्या उग्रा दुर्गपाल दस्यु भैरव के हाथों मौत के घाट उतार दी गई है। विश्वमित्र ने तत्काल भैरव का भी वध कर दिया। उग्रा के निधन पर विश्वमित्र अत्यधिक विषण्ण और व्याकुल है। सभी लोग उसे सान्त्वना देते हैं। विश्वमित्र गोमन्त पर्वत पर तप करने के लिए चला जाता है। और्व आथर्वण तथा वशिष्ठ आदि ऋषि विश्वमित्र का पुनः विवाह करना चाहते हैं। अगस्त्य की पुत्री रोहिणी, जो विश्वमित्र पर आसक्त है, उन्हें योग्य वधू प्रतीत होती है। वे विवाह के अवसर की प्रतीक्षा में हैं।

तभी सुदास, कार्त्तवीर्य आदि विश्वमित्र के देश पर आक्रमण कर देते हैं। तब विश्वमित्र को गोमन्त पर्वत से बुलाया जाता है। वह अपने दिव्य अस्त्रों की महिमा से सभी विरोधियों के प्रहारों को निराकृत कर देता है। सर्वत्र शान्ति छा जाती है। तब वशिष्ठ आदि ऋषियों की उपस्थिति में विश्वमित्र तथा रोहिणी का विवाह हो जाता है तथा नाटक का अन्त सुख में होता है। दस्यु-विजय, विरोध-शमन, दस्युकन्या उग्रा और रोहिणी से विवाह तथा विपक्षी राजाओं के दमन के कारण विश्वमित्र के सब कार्य सिद्ध हो गए। अतः इस नाटक का नाम-करण 'कृतार्थकौशिकम्' उचित प्रतीत होता है। इस नाटक का नाम 'कृतार्थकौशिकम्' इसलिए भी उपयुक्त है क्योंकि कौशिक विश्वमित्र ने अपने व्यवहार से सबको कृतार्थ कर दिया है। उसने सबकी सहायता की, सबका उपकार किया।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत नाटक में महाराज गाधि, विश्वमित्र, दस्युराज शम्बर, दस्युराजकुमारी उग्रा, अगस्त्य, लोपामुद्रा, रोहिणी आदि प्रमुख पात्र हैं। नाटक छह अङ्कों में विभक्त है और इसके नायक विश्वमित्र हैं, जिनका कुलनाम कौशिक है। चरित्र-चित्रण में नाटककार श्रीकृष्ण जोशी जी को पर्याप्त सफलता मिली है। विश्वमित्र शान्त तथा गम्भीर हैं। उनके पास अमोघ दिव्य अस्त्र हैं परन्तु वे उनका अनुचित प्रयोग नहीं करते हैं। बाल्यावस्था में विश्व-मित्र का चचेरा भाई सुदास उन्हें जल में डुबा देता है। परन्तु चेतना आने पर विश्वमित्र उससे बदला नहीं लेते हैं, प्रत्युत उसे दिए जाने वाले दण्ड से बचा लेते हैं। आर्यों के विरोधी दस्युओं के प्रति भी उनके मन में सहानुभूति हैं। वे उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। उन्हें आर्य बनाना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में सत्सङ्ग, सदन्न सथा संस्कार के कारण अनार्य भी आर्य हो जाता है। वेद किसी के प्रति भी मन में दुर्भाव नहीं रखते हैं। दस्यु-कन्या उग्रा के निश्छल प्रेम से प्रभावित होकर वे उससे विवाह करने को भी उद्यत हो जाते हैं। उन्हें अपने दृढ़ निश्चय से कोई डिगा नहीं सकता है। अगस्त्य, वशिष्ठ आदि के विरोध करने पर भी वे शाम्बरी उग्रा का परित्याग नहीं करते हैं। इस विवाह के माध्यम से वे आर्यों तथा अनार्यों में समन्वय की भावना उद्‌बुद्ध करना चाहते हैं। नाटककार ने विश्वमित्र के रूप में आदर्श चरित्र की सृष्टि की है। वे नाटक के केन्द्रबिन्दु हैं, जिनके चारों ओर नाटक की सब घटनाएं घूमती हैं। लगता है नाटककार ने विश्वमित्र के चरित्र का विकास करने के लिए तथा उसके चरित्र का उज्ज्वल रूप प्रदर्शित करने के लिए ही विविध घटनाओं का आयोजन किया है। आश्रम में शिक्षा से लेकर उग्रा और रोहिणी के विवाह तक की घटनाएं इस दिशा में ही अग्रसर हैं। इस प्रकार नाटककार का ध्यान विश्वमित्र पर ही केन्द्रित है। विश्वमित्र के पिता महाराज गाधि का चरित्र भी उज्ज्वल है। उनमें आर्यत्व की अक्षुण्ण भावना है। आर्यत्व की रक्षा के लिए वे बड़े से बड़ा त्याग करने को भी उद्यत हैं। आथर्वण और्व ने उनके देश पर आक्रमण किया था फिर भी उसे वे अपनी पुत्री सत्यवती को स्वयंवर में वरण करने की अनुमति दे देते हैं, क्योंकि और्व आर्य हैं तथा देश की दस्युओं से रक्षा कर सकते हैं।

उनके मन में आर्यों को परस्पर संगठित रखने की प्रबल लालसा है। महाराज गाधि के रूप में नाटककार ने दूरदर्शी, देशभक्त, आर्यत्वप्रेमी उत्कृष्ट पात्र की सृष्टि की है। दस्युराज शम्बर का चरित्र भी सर्वथा स्वच्छ है। वह अपनी पुत्री को विश्वमित्र को अर्पित करने के लिए प्रस्तुत है और इस विवाह के द्वारा आर्यों तथा दस्युओं में मैत्री का भी इच्छुक है। परन्तु उसका दुर्गपाल भैरव अत्यन्त क्रूर है। वह आर्यों का भयङ्कर विरोधी है। वह विश्वमित्र तथा बन्दी बनाये गये अन्य आर्यों की भी हत्या करना चाहता है। उसमें प्रतिशोध की प्रचण्ड ज्वाला है। अत एव वह दस्युराज की पुत्री उग्रा से बदला लेने के लिए उसकी हत्या कर देता है। अगस्त्य स्वाभिमानी है और उसमें जाति प्रेम कूट-कूट कर भरा है। वह उग्रा को राजमहिषी के रूप में नहीं देख सकता है। वह उसे दस्युजा होने के कारण अपनी दासी बना कर रखना चाहता है। उसमें सैनिक सञ्चालन का कौशल है। उसके नेतृत्व में आर्य सेना शम्वर के दुर्ग पर विजय पाती है। दस्युकन्या उग्रा के रूप में नाटककार ने प्रेम का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। विश्वमित्र का रूप तथा उसका सौम्य स्वभाव उसके हृदय पर जादू का सा प्रभाव डालता है। वह तन मन धन से अपने को विश्वमित्र को अर्पित कर देती है। वह अपने को विश्वमित्र के योग्य सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास करती है। विश्वमित्र के उसे विवाह के लिए अस्वीकार कर देने पर वह प्राण-परित्याग करने लगती है। वह विश्वमित्र को भैरव के हाथों मरने से बचाने के लिए दुर्ग का गुप्त द्वार भी खोल देती है। उसने अपने को अनन्य पतिव्रता सिद्ध किया है। लोपामुद्रा का जीवन परसेवा में लग्न है। वह भेदभाव के बिना, दस्यु हो या आर्य, युद्ध में क्षतविक्षत होने पर दोनों की समान भाव से परिचर्या करती है। वह शम्बरराज के प्राण भी बचाती है। रोहिणी अगस्त्य की पुत्री है। उसके हृदय में विश्वमित्र के प्रति अगाध प्रेम है। परन्तु वह इस प्रेम को मौन होकर हृदय में ही छिपाए है। उसकी इस मूक साधना का फल उसे मिलता है। उग्रा की मृत्यु के बाद उसका विवाह विश्वमित्र से हो जाता है। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त अन्य गौण पात्र भी हैं, जैसे—पौरवराज, खेल, भद्राक्ष, ऋचीक, वशिष्ठ, जमदग्नि, दिवोदास, भारद्वाज, घोषादेवी इत्यादि।

'कृतार्थकौशिकम्' में रसव्यञ्जना

'कृतार्थकौशिकम्' में शृङ्गार रस की सफल अभिव्यञ्जना हुई है। दस्युराजकुमारी उग्रा के प्रेम के चित्रण में शृङ्गार रस की, विशेष रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार की, छटा दर्शनीय है। प्रथम हम उग्रा को कौशिक विश्वमित्र के वियोग में विह्वल देखते हैं; तदनन्तर उग्रा के निधन पर विश्वमित्र को उसके विरह में परम व्याकुल तथा विषण्ण देखते हैं। इस अवसर पर नाटककार ने विप्रलम्भ की पोषक विभावादि सामग्री की समुचित योजना की है, जिसके साथ सहृदय का हृदय-संवाद होता है और वह विप्रलम्भ की चर्वणा पूर्ण रूप से रकता है। दस्युओं तथा आर्यों के युद्ध-वर्णन में वीररस का परिपाक है। भैरव के चरित्रांकन में, विशेष रूप में जब वह अपने इष्ट देव भैरव के लिए विश्वमित्र की बलि देना चाहता है, भयानक रस प्रकट होता

है। दस्यु सैनिक तुग्रक तथा विश्वमित्र के उदात्त, निर्वैर, परोपकारी, निस्पृह चरित्र में शान्त-रस की झलक देखी जा सकती है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में अनेक रसों का मिश्रण है। परन्तु अङ्गी रस शृङ्गार प्रतीत होता है, क्योंकि यह आरम्भ से अन्त तक व्याप्त है। नाटक का आरम्भ सत्यवती के स्वयंवर से होता है और अन्त विश्वमित्र के साथ रोहिणी के विवाह से। मध्य में वीर, भयानक, हास्य आदि रसों की अनुभूति होती है। परन्तु वे रसराज शृङ्गार की प्रबल धारा में विलीन हो जाते हैं। 'कृतार्थकौशिकम्' का शृङ्गार रूप तथा वासना से कलुषित नहीं अपितु निश्छल प्रेम की धारा से पवित्र है। दस्युकन्या उग्रा कृष्णवर्ण है। उसके नाक कान आदि अवयव आकर्षक नहीं हैं। परन्तु विश्वमित्र उसके बाह्य रूप को न देखकर उसके निर्व्याज हृदय को देखकर उस पर आसक्त है। विश्वमित्र का सहचर ऋक्ष वासना के मद में अपने को खो देता है, परन्तु विश्वमित्र अपने चरित्र पर दृढ़ रहता है। वह किसी प्रलोभन तथा वाह्य आकर्षण के वशीभूत न होकर शुद्ध प्रेम के भाव से प्रेरित होकर दस्युकन्या को अपनी भार्या के रूप में स्वीकार करता है और अपने प्रेम की दृढ़ता में भरतों के विशाल राज्य के सम्राट् पद का भी त्याग करने के लिए उद्यत है।

'कृतार्थकौशिकम्' के संवाद

नाटक के संवाद रोचक हैं। उग्रा तथा विश्वमित्र का संवाद नाटकीय दृष्टि से उच्च-कोटि का है। इसके अतिरिक्त, ऋक्ष तथा तुग्रक, अगस्त्य तथा विश्वमित्र आदि के अन्य संवाद भी हैं। ये संवाद पाठक के कुतूहल को जागरुक रखते हैं तथा नाटक की कथा को गति देते हैं। इन संवादों की यह विशेषता है कि ये पात्रों के चरित्र को स्पष्ट कर उसे उभार देते हैं। उदाहरण के लिए, विश्वमित्र तथा उग्रा का चरित्र जितना उनके पारस्परिक संवाद में स्पष्ट होता है उतना सम्पूर्ण नाटक में अन्यत्र कहीं नहीं। यहां हम अन्तर्द्वन्द्व की पराकाष्ठा देखते हैं। उग्रा प्रबल तर्कों तथा युक्तियों के द्वारा विश्वमित्र को विवाह के लिए प्रेरित करती है। परन्तु विश्वमित्र उसके तर्कों का प्रत्युत्तर देकर उससे अपने विवाह का अनौचित्य सिद्ध करता है। इसी प्रकार अगस्त्य तथा विश्वमित्र का वार्त्तालाप भी महत्वपूर्ण है और दोनों के चरित्रों पर व्यापक प्रकाश डालता है। अगस्त्य वशिष्ठ आदि आर्य विश्वमित्र को दस्युकन्या उग्रा का परित्याग करने को कहते हैं। परन्तु विश्वमित्र इस व्यवहार को अमानवीय तथा आर्य-धर्म के प्रतिकूल मानता है। उग्रा दस्युपुत्री है, अतः उसका त्याग कर दिया जाय इस प्रकार की घिनौनी जातीयता की भावना का वह प्रबल विरोध करता है। उग्रा भी मानवपुत्री है, गर्भिणी है, उसकी विधिपूर्वक परिणीता पत्नी है। अतः उसकी रक्षा करना वह अपना परम कर्तव्य समझता है। वह राज्य के स्वामित्व को तो त्याग सकता है परन्तु उग्रा को नहीं। विश्वमित्र के चरित्र का उज्ज्वल रूप हम इस नाटक के संवादों में ही देखते हैं। इस प्रकार चरित्र के विकास में, नाटक की कथा के प्रवाह को आगे बढ़ाने में तथा पाठक के हृदय में कुतूहल की भावना बनाए रखने में 'कृतार्थकौशिकम्' के नाटकीय संवाद उत्तम सिद्ध हुए हैं।

नाटककार की शैली

शैली की दृष्टि से 'कृतार्थकौशिकम्' प्रौढ और परिपक्व रचना है। नादसौन्दर्य, ध्वनि-योजना, संगीतात्मकता, समस्त पदावली, अङ्कलार तथा गुणों के समुचित प्रयोग में कवि ने अपना पूर्ण कौशल प्रकट किया है। पात्र तथा भावों की स्थिति के अनुरूप भाषा को ढाल देने में भी कवि निपुण है। क्रोध, उत्साह, अमर्ष आदि उग्र भावों की अभिव्यञ्जना में भाषा में दीप्ति, ओज और गरिमा आ जाती है। पदावली समासों के कारण दीर्घ तथा जटिल होने लगती है। भावानुरूप ध्वनियों की प्रभावशाली शृङ्खला बनने लगती है और इनका संयोजन पाठक के हृदय पर पूरा प्रभाव छोड़ता है। जैसे—

यस्य प्रौढप्रतापज्वलनकवलिता ह्यासमन्ताद्दिगन्ताः,
यः सिन्धोरासरस्वत्यपि सकलमहीमेकमानः प्रशास्ति।
यस्यातङ्कात् पुरूणां भरतकुलभुवां सम्पदाकम्पमाना,
सद्यः प्राप्तः सरस्वत्यपरतटभुवं सोऽयमौर्वस्तरस्वी॥

प्रस्तुत पद्य में आक्रमणकारी और्व के प्रचण्ड व्यक्तित्व, शौर्य तथा पराक्रम के अनुरूप समासों तथा ध्वनियों की आयोजना की गई है जिनके पठन या श्रवण मात्र से ही चित्त ध्वनियों के प्रभाव से दीप्त होने लगता हैं। परन्तु जब किसी करुण या कोमल भाव का चित्रण करना हो तब भाषा वर्षा के बाद शान्त नदी के समान बहने लगती है। समासों का प्रयोग कम हो जाता है। पद तथा ध्वनियां कोमल हो जाती हैं। भाषा में प्रसाद गुण उभर आता है जिससे तुरन्त अर्थव्यक्ति होने लगती है। जैसे दस्युकन्या उग्रा के मूर्च्छित हो जाने पर दुःखित धात्री के वचनों में सरलता तथा सरसता है। भाषा मोम की तरह पिघल कर बह रही है। वाक्य लघु हैं। स्थान-स्थान पर विश्राम है। पदों की भी पुनरुक्ति है, क्योंकि शोकविह्वल व्यक्ति एक ही बात को बार-बार दुहराता है :

ममैवाङ्के लीना रुदितमकरोर्जन्मसमये,
ममैवाङ्के भूमौ लघुविरलदन्तैः स्मितवती।
ममैवाङ्के भाषां त्रुटितवचना शिक्षितवती,
ममैवाङ्के हा त्वं शकुनिवदसूनुज्झितवती॥

अन्त्यानुप्रास की सहायता से नाटककार ने संगीतात्मकता का प्रभाव उत्पन्न किया है जिससे पद गूंजते हुए प्रतीत होते हैं और उच्चारण के अनन्तर चिरकाल तक झङ्कृत होते रहते हैं—

एषा रम्या शुद्धलोकाधिगम्या,
सिद्धैर्जुष्टा वेदमन्त्रैर्विघुष्टा।
वेदीगर्भा प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा,
पुण्यज्वाला हव्यगन्धाग्निशाला॥

यमक की भी छटा यदा कदा दिखाई दे जाती है—

अहह रोहिणि रोहिणि ते सखी,
सुतवती तव जीवति जीविते।
अरिशता रिशता निहतारिणा,
मम रणे मरणेऽस्य हृदि व्यथा।

परन्तु नाटककार की शैली की विशिष्टता उस समय हमारे सम्मुख उभर कर आती है जब वह नाद, कल्पना तथा रंग तीनों का सौन्दर्य एक स्थान पर विनिवेशित करता है। जैसे—

खुरक्षुण्णक्षोणीतलचलितगोलक्षरजसा,
जगत्प्राणो लक्ष्यो विलसति वलक्षोऽम्बरतलम्।
करैः प्रेम्णा लिम्पत्यवनिवनितां कुङ्कुमरसैः,
सरागोऽयं भानुर्वरयति कृशानु निजरुचम्॥

उपर्युक्त पद्य में 'खुरक्षुण्णक्षोणीतल' आदि में ध्वनियों का सौन्दर्य है। 'करैः प्रेम्णा लिम्पत्यवनि' आदि में कल्पना की छटा है जो रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के रूप में साकार हुई है तथा 'कुङ्कुमरसैः', 'वलक्षः', 'सरागः' आदि पदों के प्रयोग में रंगों की शोभा है जिससे सन्ध्या का दृश्य बहुरंगी हो गया है।

भावव्यञ्जना में सक्षम अलङ्कृत तथा परिष्कृत भाषा के प्रयोग के साथ-साथ कवि ने समयानुकूल सरल तथा प्रसन्न भाषा का भी प्रयोग किया है। तुग्रक तथा ऋक्ष के वार्त्तालाप, अजीगर्त तथा जाबाल के वार्त्तालाप में भाषा सरल तथा व्यावहारिक है। सरल भाषा तथा उपयुक्त उपमानों के माध्यम से कवि बहुधा जीवन में उपयोगी शिक्षा भी दे देता है—

गर्त्तं निखातमवनौ परिपूर्त्तिमेति,
वृक्षं पुरोहतिहृतिः परिलूनशाखे।
हृन्मर्मणि क्रकचकर्त्तनवत्कराला—
तां वेदनां स्वयमुपाकुरुते हि कालः॥

नाटककार की शैली की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसने पद्यों का प्रयोग नाटक की प्रगति को अग्रसर करने के लिए किया है न कि ऐसे वर्णनों के लिए जो नाटक में प्रत्यक्षतः सहायक होने की अपेक्षा कवित्वमय अधिक होते हैं। हम देखते हैं कि नाटक को अभिनेय बनाने के लिए नाटककार ने लम्बे समासों का कम प्रयोग किया है तथा शब्दाडम्बर को भी कम स्थान दिया है। भाव तथा अभिनेयता को ध्यान में रखते हुए नाटककार ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप् जैसे लघु छन्द का प्रयोग है तो कहीं मन्दाक्रान्ता और शार्दूल-विक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का। छन्दों के प्रयोग में छन्द के नियमों का पालन किया गया है।

'कृतार्थकौशिकम्' जैसे महत्त्वपूर्ण वैदिकयुगीन भारत की झांकी दिखा देने वाले नाटक का प्रकाशन बहुत आवश्यक था। अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद् ने इस अभाव की पूर्ति की है जिसके लिए हम परिषद् का अभिनन्दन करते हैं। प्रकाशन में यत्र तत्र मुद्रण की त्रुटियां हैं जिन्हें आशा है अगले संस्करण में दूर कर दिया जाएगा।

पुरुष-पात्राणि

सूत्रधारः

नटः

गाधिः
कुशिकः } भरतानां महाराजः सत्यवतीविश्वमित्रयोः पिता च ।

खेलः पौरवराजः ।

और्वः
और्वजः
आथर्वणः
ऋचीकः
भार्गवः } अपरः आर्यनृपतिः प्रथमं भरतराज्योपरि आक्रमणकर्ता तदनन्तरं सत्यवत्याः स्वयंवरो पतिः गाधेर्जामाता च ।

द्रुह्युः—द्रुह्युराजः भरतराज्योपरि आक्रमणकर्मणि और्वजस्य सहायः ।

विश्वमित्रः
विश्वरथः
कौशिकः } गाधिपुत्रः ।

जह्नः
जह्नुः } दस्युराजशिविरे कौशिकस्य कल्पितं नाम ।

जमदग्निः—सरस्वत्यौर्वयोः पुत्रः गाधेर्दौहित्रश्च ।

ऋक्षः—दुर्दमपुनेर्पुत्रः अगस्त्यमुनेर्शिष्यः कौशिकस्य सहचरश्च ।

कुशाग्रः
कुशाग्रहः } —दस्युराजशिविरे ऋक्षस्य कल्पितं नाम ।

दिवोदासः
तृत्सुराजः
अतिथिग्वः } तृत्सूनां राजा विश्वमित्रस्य पितृव्यश्च ।

प्रतर्दनः—दिवोदासस्य भ्रातृजः पैंजवनस्य पुत्रश्च ।

वीतहव्यः—सोमकराजपुत्रः भरतान्प्रति सुदासेन कृतेऽभियाने तत्सहायः ।

अगस्त्यः—महर्षिः, भरतानां पौरवाणाञ्च पुरोहितः दिव्यास्त्रणां ज्ञाता शिक्षकश्च ।

पुरोधा—सरस्वत्याः स्वयंवरे कृत्यसम्पादयिता ।

वसिष्ठः—महर्षिः ।

भारद्वाजः—महर्षिः ।

शम्बरः—दस्युराजः ।

भद्राक्षः—भरतानां सेनाध्यक्षः ।

भैरवः—दस्युसेनापतिः ।

देववातः—राजदूतः ।

देवश्रवाः—अपरः राजदूतः ।

पुरुषः
राजपुरुषः
देवलकः } —राजपुरुषाः ।

तुग्रः
तुग्रकः } —दस्युराजशम्बरस्य सैनिकः ।

अजमीढः
पुरुमीढः } —विद्यार्थिनौ ।

कर्दमः—नागरिकप्रधानः ।

व्याघ्रपादः
जाबालः
अजीगर्तः
जयन्तः } नागरिकाः ।

स्त्री-पात्राणि

घोषा देवी—गाधेर्पत्नी कौशिकस्य माता

सत्यवती—गाधेर्दुहिता, और्वजस्य पत्नी, जगदग्नेर्माता ।

लोपामुद्रा
लोमहर्षिणी } —भारद्वाजस्य अपत्यकृतका, अगस्त्यस्य पत्नी ।

रोहिणी—अगस्त्यस्य कन्या ।

अरुन्धती—वसिष्ठस्य पत्नी ।

राजमहिषी—दस्युराजमहिषी ।

उग्रा
उग्रिका
शाम्बरी } शम्बरराजकुमारी

वृद्धा धात्री
धात्री } —शम्बरराजकुमार्याः वृद्धा धात्री ।

चेटी—सत्यवत्याः परिचारिका ।

चेटी (अपरा)—दस्युराजमहिष्याः चेटी ।

श्रीगणेशाय नमः

श्रीकृतार्थकौशिकं नाम नाटकम्

श्रीहिमालयपर्वतीयश्रीकृष्णकविकृतम्

प्रस्तावना

विज्ञानं परमोन्नतं शिरसि सद्गम्भीरभावो हृदि
प्रज्ञा सत्त्वगुणस्थिरापि रजसः स्नेहो विकारः पृथक् ।
तन्मध्यस्थितभेदभञ्जनकरौ संयोजितौ द्वौ करौ
हृन्न्यस्तौ शिरसा नतेन मिलितौ स्यातां समृद्धिप्रदौ ॥ १ ॥

नान्दी

स्वाराज्येन स्वराज्येन सूर्येण शशिना त्विषम् ।
लोकयोरुभयोः कुर्याद् धर्मं शुद्धमृचामृतम् ॥ २ ॥
निश्रेयसश्चाभ्युदयः स्यात्क्रमाच्छुक्लकृष्णयोः ।
पक्षयोरुभयोः सन्धिः कल्याणायामृताय च ॥ ३ ॥
समस्तं विश्वं योऽभ्युदयसमये नन्दनपरो
वलक्षे नीले वा कमलयुगले पक्षरहितः ।
नभोनैल्यं चान्द्रं धवलिममिथोमण्डनपरम्
यदीये प्रद्योते सुखयतु स मित्रः परिषदम् ॥ ४ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः अलमतिविस्तरेण । आज्ञप्तोऽस्मि श्रीस्वतन्त्रभारतजातीयपरिषदा यद् अद्यतन-राष्ट्रविजयजयन्तिकामहोत्सवे विनोदनीया नानादिगन्ताभ्यागता महनीया महात्मानो विशिष्टाश्च विद्वांसः इति । तस्मात् सुप्रसिद्धेन प्राचीनेतिहासनिष्ठेन श्रीभारत-महत्त्वस्मारकेन केनचित् नवीनतमनाटकेन तेषां मनोविनोदः स्यादिति हेतोः श्रीविद्याभूषणश्रीकृष्णेन ज्योतर्विदा प्रणीतेनाभिनवनाटकेन पारिषदानानन्दयिष्ये । (उच्चैः) कः कोऽत्र भोः ।

नटः भाव ! अयमहमस्मि भवदाज्ञां प्रतीक्षमाणः ।

सूत्रधारः प्रतीक्षमाणा खल्वियं महती परिषत् । तस्मात् समारभ्यतां सङ्गीतमविगीतानां परिषदां मनोरञ्जनाय ।

सहस्रद्वयवर्षीया . पराधीनत्वशृङ्खला ।
खण्डिता यत्प्रसादेन तस्य कीर्त्तिर्न गीयते ॥ ५ ॥

नटः अहो ! समयोचितमिदं सूचितम् । अथ सम्प्रति सामवेदानुसारिनिगदेन गायनं स्यादुत नूतनप्रतानितेषु गमकमूर्च्छनाग्रामेषु रुचिकरालापकलापैः इति विचार्य सानुरागं रागं कुशीलवा गास्यन्ति । तच्छृङ्गारादिनवरसेषु कतमं रसविशेषमनुसृत्य गीयताम् ।

सूत्रधारः अहो राष्ट्रविजयजयन्त्यां श्रीधीरोदात्तनायकस्यानुरूपो वीर एवाङ्गी रसो मुख्यत्वमवलम्बते । तथापि शृङ्गाररसहीनं तु सर्वं रसहीनमेव प्रतीयते ।

न ह्येकलः सरसतां सुरसो निधत्ते
शृङ्गारवीररसयोर्हि समानमानः ।
यो वै रसो वसति चेतसि नायकस्य
सोऽङ्गी प्रधान इतरे परिपोषकाः स्युः ॥ ६ ॥

नटः प्रसङ्गवशात् पृच्छामि । कः खलु राष्ट्रेऽद्य नायकेषु प्रधानतमः ।

सूत्रधारः आश्चर्यम् ! निजविपुलपुण्यश्लोकधामधवलितदिगन्तपर्यन्तधरातलस्य निःशेषदेश-मानितजीवनोदन्तजातस्य सप्तमहासागरपारसमुत्सारितारिनिवहस्य मैत्रकरुणामुदि-तादिसामयिकसामदानादिनीतिनिपुणस्य भरतजनपदजनानां स्वतन्त्रराज्यवीजस्य श्रीगान्धिमहात्मनो भवताद्यैव नामापि विस्मृतम् ?

नटः नौरोजिबालतिलकोदरगोखलेय-
पीरोजशामदनमोहनमालवीयाः ।
वीरास्तु लाजपतरायमुखा महान्तः,
प्राधान्यमेषु खलु गान्धिमहात्मनोऽद्य ॥ ७ ॥

हा हा हन्त ! किमेतेऽप्येतेषां सहचराश्च कदापि विस्मरिष्यन्ते ? अहो क्वाधुना तादृशाः परोपकारपरायणाः पतितपावनाः दलितोद्धाराय धृतावताराः ? तस्य गान्धिमहात्मनस्तु नामगुणसाम्यं दधानोऽयमेव खलु प्राचीनतमो महानुभावो भरतजनराजोऽपि श्रीगाधिगाधिरिति विश्वविश्रुतः कुशिकवंशावतंसः समीक्षतेऽमुष्मिन्महाविस्तीर्णे वितानयज्ञमण्डपे । अयं महानुभावोऽग्निशालायामेव समुचिते सामान्यभद्रासने श्रीमता खेलमहोदयेन सह मन्त्रमाणो दृश्यते ॥

सूत्रधारः अहोऽस्मिन् श्रीगाधिमहात्मनि च वस्तुतः श्री गान्धिमहात्मनो न केवलं नाम-साम्यं किन्तु धीरोदात्तगुणेष्वपि साम्यमेव ।
सायन्तनास्तमनभानुकरावलीढविस्तीर्णदारुमयमञ्चमहीयमानौ ।
केशत्रये महसि भाति च पौरवेशः केशोज्ज्वलः कुशिकजश्च तुरीयकेशः ॥८॥

'इति प्रस्तावना'

अथ प्रथमोऽङ्कः ।

स्थानं यज्ञशालायाम्

(प्रविश्य दारुमञ्चस्थौ महाराजगाधिश्च पौरवराजः खेलश्च ।)

गाधिः महाराज ! पौरवेश्वर ! एक एवायं जातवेदास्त्रिषु यज्ञकुण्डेषु जाज्वल्यमानः सममेवोद्देश्यं सम्पादयति । अहो न देशभेदो न च जातिभेदो जातवेदसि न च मिथः संघर्षः ।

खेलः देव ! राजराजेश्वरचक्रवर्तिन् ! एवमेतद् । भिन्ननामानोऽपि भिन्नकुण्डस्थाश्चेमे बह्नयः परस्परं न युद्ध्यन्ते । निजनिजपरमपुण्यप्रतापसंयोगेन परस्परं वलवत्तरं सम्पादयन्ति ॥

गाधिः अथ च स्वे स्वे स्थाने निर्धारिते यथासमयं निजनिजासु वेदिकासु देदीप्यन्ते । समानमाना यथा पञ्चाग्नयो यज्ञे तथा हि पञ्चार्याः राजानो लोकेऽपि राजन्ते । नहि तेषां मिथो युद्धं कदापि कस्यापि श्रेयस्करम् । किन्तु हा विचित्रैव खलु मानुषाणां मानसी प्रवृत्तिः ॥

खेलः देव ! न च देवेषु नापि दानवेषु कदापि परस्परं युद्धं श्रूयते । श्वापदप्रवृत्तिर्हि मानुषाणां मिथो युद्धं कारयति ।

गाधिः तत्कथं वार्येतार्येषु स्वजातिसंहारकः सम्प्रहारः ?

(प्रविश्य)

पुरुषः देव ! सम्प्राप्तः ।

गाधिः अयि कः ?

पुरुषः देव !

यस्य प्रौढप्रतापज्वलनकवलिता ह्यासमन्ताद्दिगन्ताः,
यः सिन्धोरा सरस्वत्यपि सकलमहीमेकमात्रः प्रशास्ति ।
यस्यातङ्कात्पुरूणां भरतकुलभुवां सम्पदाकम्पमाना,
सद्यः प्राप्तः सरस्वत्यपरतटभुवं सोऽयमौर्वस्तरस्वी ॥ ६ ॥

गाधिः कथमौर्वः ! स त्वयमौर्वजः स्यादृचीक आथर्वणो भृगुप्रदीपः ॥ मन्ये केऽप्यन्ये च राजानस्तत्सहायाः स्युः । नोचेत्केवले भृगुजे तु वयमेकाकिनोऽपि पर्याप्ताः ।

पुरुषः देव ! सद्वेषाणि खल्वनुद्रुह्युबलान्यपि तमेवानुव्रजन्ति ।

खेलः राजराजेश्वर !

द्वावेतौ मिलितौ जगज्जयकृते पर्याप्तभूतौ न चेत्
एकस्त्वं हि विवर्द्धमानजलधेर्वेलेव नोल्लङ्घ्यसे ।

बालानामिव तुष्टये विहितया छन्दोऽनुवृत्या तु ते
भ्रान्त्या त्वामतिदुर्बलः स्वजरसेत्यालोच्य युद्धोन्मुखाः ॥१०॥

गाधिः आः ! सप्ताङ्गानामस्माकमजरामरं खलु बलाङ्गम् । (विचार्य) औवंजाथर्वणस्य तथा चानुद्रुह्युप्रभृतीनां सहसैवास्माकं राज्यसीमोल्लङ्घनं किम्प्रयोजनकं स्यात् ? अस्माकं हि सर्वेषामार्याणां समानः प्रयत्नः साम्प्रतं सकलदस्युबलस्योत्सादनेऽप्यार्य-बलवर्द्धने च । सम्प्रत्येव प्रवीरायितं तेनैवौर्वेणाथर्वणेन दस्युदलध्वंसने । अथ को नाम हेतुरस्माकमाकस्मिकस्य विग्रहस्य स्यात् ? ॥

खेलः अलं चिन्तया ! कथञ्चिद्दस्युदले विजयं प्राप्य संगर्वाः प्रवीरम्मन्याः ते सीमान्तसामन्ता चक्रवर्तित्वमात्मनोऽभिलष्यन्ति । तद्यथाऽत्रभवतां श्वेतातपत्रं सनातनैर्यशोभिरभिरक्षितं सम्प्रत्यपि न परिभूयते केनचिदपि तथाऽनुष्ठीयताम् ।

गाधिः पौरवराज ! ततः पराजयभयं तु नास्त्येव । किन्तु केनापि सह कलहलेशमपि नेच्छामि परस्परमार्यभूपालेषु । तथापि—

पवित्रेऽप्यसिपत्रे मे स्वयं निपतितः परः ।
स्वक्षतक्षतजालेपाद् वृथा मेऽसि न दूषयेत् ॥११॥

अतोऽहं क्षणमात्रं चिन्तयामि । यतो यत्कर्तव्यं तद्विचार्य कर्त्तव्यम् ॥

खेलः देव !

विचारधारा भवतः सुनिर्मला
कृपाणधारा मलिनापि शोभते ।
पर्याप्तमेवास्तु ममेदमायुधं
निवारणार्थं भवदीयवैरिणाम् ॥ १२ ॥

साम्प्रतमपि सुसज्जितमेवास्ति मम पौरवं सैन्यं तेषां सर्वेषामभिषेणनार्थम् भरतानामपि चासङ्ख्येयं खलु बलं श्रीभद्राक्षाचार्यैरभिरक्षितम् । तत् को नाम वराको ग्रामसिंहः सिंहस्य गुहावगाहनप्रगल्भः स्यात् । किन्तु—

गाधिः किन्तु ! पौरवराज ! भवदुक्तावन्तिमः 'किन्तु' शब्दोऽस्माकं न्यूनतां सूचयति ।

खेलः महाराज ! नहि न्यूनत्वं किन्तु सोऽपि शब्दो भवतां विशिष्टत्वमेव सूचयति यद्भवन्तः श्रीमत्याः सत्यवत्यास्तातपादाः । अत एव ब्रवीमि । किन्तु भवता श्रीसत्यवत्या विवाहचिन्ता तु स्वयमेव विचार्य कर्त्तव्येति ॥

गाधिः सत्यमेतत् ! बाल्यात्परां दशां सा प्रपन्ना । सम्प्रत्येव विवाहयोग्या ।

खेलः अत एवायं प्रस्तावः । यत्सत्यवत्याः परिणयमात्रेण सुसम्पाद्यः खलु तस्यौर्वस्यापि विजयोपायः । अयमेवोपायो भवतां च लोकद्वयविजयाय च सम्पत्स्यते ।

गाधिः नूनमस्त्येवायमाथर्वणोऽपि सर्वथास्मत्कन्योद्वाहपात्रम् । किन्तु अस्मिन्नवसरे भयादिव शत्रवे कन्यासमर्पणं लोकेऽस्माकं महदपयशस्करं स्यात् । न चास्माकं तस्याः स्वयम्वरायाः सम्प्रदानाधिकारः ॥

खेलः (आत्मगतम्) अहो कष्टम् ! स्पष्टभाषणाभावात् मत्प्रार्थनावचनप्रसङ्गोऽन्यथाऽवगतो महाराजेन । तत्स्पष्टतरं भूयश्च कथयामि । (प्रकाशम्) देव ! प्रस्तुतं विहाय नाप्रस्तुतस्य चिन्ता भवता कर्त्तव्या । यतः स्वयमहमेव भवतां सर्वं कार्यं पूरयिष्यामि । मास्तु भवतां कृपापात्रं कृपाणपात्रं वाऽयं भृगुवंशीयो यो भयं दर्शयति ।

गाधिः अहन्तु प्रस्तुतं मन्ये देशरक्षणमग्रतः ।
कन्यौद्वाहस्तु भवताद् यथावसरमुत्तरात् ॥ १३ ॥

खेलः महाराज !

कार्यद्वयस्य संसिद्धिरधुनैव भविष्यति ।
भद्रासनात्समुत्थानमपि नावश्यकं भवेत् ॥ १४ ॥

गाधिः अस्तु तथा । भूयोभूयः स्फुरन्तीह मे दक्षिणाङ्गानि । मन्ये सत्यान्येव स्युर्वचनानि भवतामुत्साहपूर्णानि । न जाने कथं देवा विधास्यन्ति ।

खेलः देव ! श्रूयताम् मे स्पष्टं मन्तव्यम् ।

कौशिक्याः करपल्लवग्रहणतः सद्यः स्फुरद्दक्षिणे
दोर्दण्डेऽसिलतां कृतान्तकलितामादाय योत्स्येऽधुना ।
खेलोऽहं करवालखेलविधिना जेष्यामि देश्यानरीन्
तूर्णं द्रक्ष्यसि पूर्णमात्मविजयं निष्कण्टकाञ्चावनीम् ॥ १५ ॥

गाधिः किन्तु नास्माकं मिथो युद्धाय चित्तवृत्तिः । यावच्छक्यं मेलापनमेवास्माकं राजनीतिः । यावच्छक्यमहिंसात्मकोऽस्माकं व्यवहारः इयमेव रीतिरावयोः पूज्यपुरोहितस्य भगवतोऽगस्त्यस्य युद्धनिवारणायैव मया पूर्वमेव कठिनशुल्क-मिषादौर्वजो निवारितः, अतः सैन्धवकामुकोऽयं गाधिरिति लोके ममास्ति प्रसिद्धिः ।

(नेपथ्ये)

पारावारस्य कोशं जलचरसहितं शोषयन् यः सरोषम्
वाताप्यातापिनौ चाद्य सदसदसुरौ यस्तरस्वी तपस्वी ।

पौरोहित्यं प्रपन्नो भरतकुलभुवां पौरवाणां च राज्ञाम्
आर्याणां कार्यहेतोः जगति समुदितः सोऽयमायात्यगस्त्यः ॥ १६ ॥

गाधिः . स्वागतं स्वागतं भगवतोऽगस्त्यस्य (सभाजनायोत्तिष्ठतः)

अगस्त्यः (प्रविश्य प्रणतौ राजानौ प्रति) विजयोऽस्त्वार्यकुलधुरन्धरयोर्वाम् ॥

गाधिः स्वागतं अर्घोऽर्घोऽर्घः। इदमासनं विष्टरमिदं पाद्यम्। अयं हि भगवान्,

ज्ञानवृद्धोऽपि तरुणः तपस्तीक्ष्णोऽप्यभेदकः।
समदर्शी च दस्युध्रुक् सन्धीच्छुर्विग्रहोद्यतः ॥ १७ ॥

अगस्त्यः महाराज! अप्यस्ति कुशलं सर्वप्रकारेण ?

गाधिः आम्! अस्त्येव कुशलम्। किन्तु,

एकः सिन्धौ ज्वलन्नौर्वो भवताऽऽचमनीकृतः।
सप्तसिन्धौ ज्वलन्नौर्वोऽस्मानाचायितुमिच्छति ॥ १८ ॥

अगस्त्यः समर्थः खलु सेनाध्यक्षो भद्राक्षस्तन्निग्रहानुग्रहाय। पौरवेश्वर! का खलु भवतामत्र सम्मतिविशेषा ?

खेलः समर्थः खलु भद्राक्षस्तत्र। किन्तु मयाप्युक्तं महाराजं प्रति। (कौशिक्याः इति पठति)

अगस्त्यः किन्तु साम्प्रतं यावच्छक्यं मिथो मेलापनमेवास्माकं सम्मतम् अयुतधवल-सैन्धवाः श्यामकर्णाः शुल्करूपेण याचिता इति क्रोधात् सबलेन सत्यवती सम्प्रतीच्छतीति मन्ये।

खेलः आर्य! सबलेन मेलापनमिच्छन्ति दुर्बलाः—

भृगूणां द्रुह्यूणां मिलितमिदमौर्वं खलु बलम्
पुरूणां साहाय्यान्न भरतबलं क्रामितुमलम्।
युवा खेलः खेलाविजितरिपुमेलापनकरो
दधाम्यौर्वंमौर्वीध्वनिजितमधस्ते चरणयोः ॥ १९ ॥

गाधिः असन्दिग्धः खलु भवतां साहाय्यस्य सौहार्दस्यापि सुपरिणामः किन्तु तत्र श्री-भद्राक्षः परीक्षते। (उच्चैः) कः कोऽत्र भोः।

देवलकः (प्रविश्य) आज्ञापयतु श्रीमहाराजः।

गाधिः अस्मद्राज्यसीमोल्लङ्घनकारिण आथर्वणस्यौर्वस्य यथोचितं प्रतिविधानं भद्राक्ष-स्त्वरितं करोतु।

देवलकः यथाज्ञापयति देवः । (गच्छति)

गाधिः (खेलं प्रति) राजन् निर्दोषः खलु भवतां प्रस्तावः। यत्कर्तव्यं तत्तु सर्वथा करणीयमेव। किन्तु न वयमेव सर्वांशेन सर्वकर्मणां कर्त्तारः। कारयिता च कर्माध्यक्षः सर्वसाक्षी श्रीभगवानुषर्बुधः य एष वेदिकासु देदीप्यते । श्रीस्वयम्बरायाः सत्याया विवाहे नाधुनास्त्यस्माकं वचनावकाशः ॥

सुपुत्रीकोऽपुत्रो धवलितकचो हेलितवचा
न मन्ये सौराज्यं गुरुतमधुरं जातु मधुरम् ।
यदि स्याज्जामाता सकलधरणीधारणचणः
तदा तस्मै त्यक्त्वा निखिलमपि सेवेय विपिनम् ॥ २० ॥

खेलः (स्वगतम्) । वस्तुतो राज्यदायमेव मे प्रयोजनम् कन्याप्रार्थनायाम् । साम्राज्यग्रहणाय मे समासक्तिर्न तु सत्यवत्यामनुरक्तिः । (प्रकाशम्) महाराज !

अहं धुर्यः सर्वं भवदभिमतं कर्त्तुमनसा
स्वयं प्राप्तो युष्मद्दुहितुरपि सम्यक्परिचितः ।
कुले शीले वीर्ये वयसि विनये वित्तविभवे
परो मत्तो नान्यो रणविपदि मान्यस्तव पुरः ॥ २१ ॥

देवलकः देव, उपस्थितः । उपस्थितः ।

गाधिः अयि कः ?

देवलकः श्रीमान् ऋचीक आथर्वणो राज्यसीमोल्लङ्घी प्रतिविधातव्य इत्यादिष्टः श्रीभद्राक्षाचार्यो देवस्य दर्शनाय स्वयमेव समुपस्थितः ॥

गाधिः अस्तु ! प्रविशतु भद्राक्षः ।

भद्राक्षः जयतु जयतु देव । देव !

ज्ञात्वर्चीकस्य शत्रोरविनयमखिलं चारसंचारयोगात्
सज्जीकृत्य स्वसैन्यं द्रुतमिह भवतां लब्धुमाज्ञामुपेतः ।
देवादेशाद्धराया गुरुभरमचिराल्लाघवं यातु यत्तः
सोत्पातं भार्गवीयं बलमपि विनये दीक्षितस्याद्भवत्तः ॥ २२ ॥

गाधिः साधु भद्राक्ष ! साधु !

साध्यन्तेऽभीप्सिताः सर्वे युक्ते काले प्रजाग्रता ।
न काचित्प्रसुप्तेभ्यो राजलक्ष्मीः प्रसीदति ॥ २३ ॥

तद्गच्छ ससैन्यो बद्धपरिकरो भार्गवस्यौर्वस्य निग्रहानुग्रहाय ।

अगस्त्यः भद्राक्षाचार्य ! शस्त्रशास्त्रविशारद ! विनापि वैरासं चातुर्येण लब्धावसरो जीवग्राहं गृहाण तमाथर्वणं भृगुवीरशिरोमणिम् । आर्यवीराणां प्रमथनं तु साम्प्रतमसाम्प्रतम् ।

गाधिः ऐवमेतद् । दस्युभिरुद्धे जिते महीमण्डले दस्युदलनमेवास्माकमिदानीन्तनमापद्धर्मम् । तत्कुरु सम्यङ् मैत्रावरुणस्य समादिष्टम् ।

साम्ना यत्र भवेत्सिद्धिस्तत्र दण्डो न युज्यते ।
क्षुधानिरसनार्थं कः स्वोदरं प्रविदारयेत् ।। २४ ।।

भद्राक्षः यथाज्ञापयति देवः । (गच्छति)

गाधिः देवलक ! त्वमपि तावत्सर्वासु प्रतोलिकासु ग्रामेषु खर्वटेषु सडिण्डिमघोषमुद्घोषापय लोकशान्त्यर्थम्—

आयातं परिपन्थिनं नियमितुं सेनापतिः प्रेषितो
माभून्नागरिकेषु कोऽपि नगरे ग्रामेऽपि भीतो जनः ।।
सन्नद्धाः सकला स्वकीयवसतिप्राचीररक्षापराः
निर्भीका नियमस्थिता स्थिरधियः सज्जीभवन्तु प्रजाः ।। २५ ।।

देवलकः देव ! एवं । (गच्छति)

अगस्त्यः (सविनोदम्) राजन् !

नैऋत्यादौर्वसेना ते वायव्यात्पौरवीषम् ।
मध्ये शान्तः प्रजापालो त्वादृशो भूतलेऽस्ति कः ।। २६ ।।

खेलः (सलज्जम्) आर्य ! सपरिच्छदा हि राजानश्चलन्ति । न खलु युद्धमात्रप्रयोजना सकला राजसेना ।

गाधिः एवमेतत् ! स खलु सोमो निस्तारको न रोचते नाम ब्राह्मणानां राजा । (अगस्त्यं प्रति) ब्रह्मन् !

त्वयि स्पष्टे नष्टा भवति दिवि घोरा घनघटा,
तडिद्वाताघाता विलयमुपयाता त्वदुदयात् ।
पृथिव्यां यत्पङ्कः त्वयि समुदिते पङ्कजवनम् ।
त्वया शान्तिर्न्यस्ता जगति च मदीये मनसि च ।।२७ ।।

अगस्त्यः देव ! दूरे खलु शान्तिसमयः । अस्त्येव सम्प्रति समन्ततो दस्यूनां हि सान्धकारोऽत्याचारः । तत्तमोनिरसनाय चन्द्राग्निमणिविद्युद्भानूनामिव पञ्चानामार्याणां तेजांसि पूर्णतया संग्रहीतव्यानि ।

खेल: आर्य ! एवमस्तु । किन्तु मिथः सन्धिश्च नास्ति निरुपायलभ्या न च दैन्येन सन्ध्यर्थं प्रार्थना प्रयोक्तव्या । स्वबलबर्द्धनाय पुरुभरतयोः सम्बन्धसाध्यसन्धिरत्यावश्यकः । एवमेव च भृगुभरतयोः सन्धिः ।

अगस्त्य: तत्पूर्वमेवोक्तं श्रीमहाराजेश्वरेण यद् यौनसम्बन्धेषु श्रीभगवान् वरुणः प्रयोजकः । पावको नाम संयोजकः ।। सन्धिविग्रहादिषु तु स्वतन्त्रा राज्ञां बुद्धयः ।।

(नेपथ्ये)

भद्राक्षेण स्वसैन्यं सकलमपि समं चालयित्वाऽऽसमन्तात्
चक्रव्यूहेन सर्वामगणितविभवां वारयित्वौर्वसेनाम् ।
रूद्धासारप्रसारां सलिलमसुलभं मन्यमानां विजित्य
सम्प्राप्तसन्धिपत्रं तदनु भृगुवरोऽथर्वणोऽन्तर्हितोऽभूत् ।। २८ ।।

अगस्त्य: साधु साधु भद्राक्षाचार्य साधु ! बुद्धिशस्त्रः खलु त्वं सर्वजेता येन समृद्धिमत् सप्तसिन्धुतीरदेशमपि शत्रुसैन्याय निर्वीवधं निर्जलञ्च विहितम् ।

निरुद्धवीवधासारा भृग्वनुद्रुह्युसैनिकाः ।
विना शस्त्रप्रयोगेण जिताः सत्वरमित्वराः ।। २९ ।।

गाधि: (चिन्तयन्) अथ स आथर्वणः किमन्तर्धानविद्यां जानाति । देवलक ! शीघ्रमादिश्यतां भद्राक्षः—

भूमावप्यन्तरिक्षे पथि सलिलनिधौ सर्वतश्चारचक्षु-
र्भद्राक्षस्तं नृपालं मृगयतु परमोदारसौहार्दहेतोः ।
किन्तु क्वाप्येष भानुप्रतिमसुमहसां राशिरौर्वश्छलेन
च्छन्नः स्याद्दस्युमेघेष्वथ रणमधि तद्रक्षणार्थं यतेत ।। ३० ।।

देवलक: यथाज्ञापयति देवः । (गच्छति)

राजपुरुष: (पुनः प्रविश्य) देव ! श्रीभद्राक्षाचार्यस्याज्ञया छद्मचारिणां शत्रुचाराणां परिसर्पणे मया कश्चिच्चारुवेषभूषो युवको मूर्त्तमिव तपःपुञ्जितमिव तेजःशुद्धान्तपरिसरं गाहमानोऽन्तःपुरजनैः सकौतुकमवलोक्यमानो निगृहीतः । ततः कियद्दूरं रक्षार्थमिव सन्नद्धाः कश्चिदपरोऽपि भद्रपुरुषः प्राप्तः । यथादेशं तावुभौ देवस्य पुरतः प्रार्पयामि ।।

अगस्त्य: तादृग् रूपवान् कश्चिदादरणीयः सम्भवति ।

गाधि: सादरं तावभ्यागतावेकैकशः प्रवेशय ।

अभ्यागतः (सपुष्पाञ्जलिः)

स्वस्त्यस्तु ते नरपते सततं जयोऽस्तु,
साम्राज्यवृद्धिरपि तेऽस्तु रिपुक्षयोऽस्तु।
वृद्धस्य केशसदृशं धवलं यशोऽस्तु,
गोत्रानुरूपचरितस्तव गात्रजोऽस्तु ॥ ३१ ॥

गाधिः महात्मन्! सुगृहीतमाशीर्वचनम् किन्तु—

वयस्यपि शतान्तिके पलितकेशकर्णान्तिके
वलीविदशनाननने विरसजीवनप्राणने।
भवद्वचनमात्रतो भवतु मादृशां गात्रजो
तदा फलतु वागरं हिमगिरिस्तरेत् सागरम् ॥ ३२ ॥
गात्रजास्तीह मे सत्या साम्प्रतं सा स्वयम्वरा।
जामातुरुपलब्धिर्मे पुत्रलब्धेः महत्तरा ॥ ३३ ॥

और्वः (स्वगतं) अहो फलितमिव वारुणं वचनम्। अदूरवर्तिनीमिव स्वमनोरथ-सिद्धिं कलयामि। स्वात्मनो मनोभीप्सितप्रसङ्गव्यासङ्गात्। (अगस्त्यमुखं पश्यति)

अगस्त्यः (निपुणं निरूप्य) अहो परिचितम्। राजराजेश्वर! जाने प्रत्यक्षरं प्रत्यक्षं ते भविष्यतीदं आशीर्वचनम्। (अभ्युत्थाय बद्धाञ्जलिः) अत्रभवन्तः खलु भगवदाथर्वणः।

वाचि वाचस्पतिप्राया मानसे मानसोपमाः।
वरे वरुणतुल्या ये तेषामाशीरसंशया ॥ ३४ ॥

(अभ्यागतस्य पादस्पर्शं नाटयति) भगवन् प्रणतिततयोऽगस्त्यकृताः।

आथर्वणः मैत्रावरुण! अप्रतिहतज्योतिः स्यात्ते प्रातिभं चक्षुः। सफलाश्च ते सन्तु सकला समीहिताः।

गाधिः (प्रणम्य) यस्यानाकरसातलं प्रविततं स्फीतं यशो निर्मलं
यन्नाम श्रुतिमात्रतो हि हृदये कम्पायमानाः परे।
यस्य स्फारकुठारधारभयतो दूरङ्गता दस्यवः
सोऽयं काव्यपतिर्ऋचीकपदभागौर्वः किमाथर्वण? ३५ ॥

नामतः को न जानाति भार्गवं तं यशस्विनम्।
प्रत्यक्षदर्शनाभावेऽस्युतसैन्धवशुक्लता ॥ ३६ ॥

खेलः (समुत्थाय बद्धाञ्जलिः प्रणमति) अयं पौरवस्य खेलस्य प्रणामः।

ऋचीकः मित्र! दृढतरः स्यात्ते मैत्रभावो लोककल्याणाय।

गाधि: (भद्रासनादुत्थाय) स्वागतं स्वागतं वः । अर्घोऽर्घोऽर्घः (प्रणामोद्यतः)

ऋचीकः अलमत्यादरेण । गृहीतः पूर्वो मानसिकः प्रणामः प्रथममाशीर्वचनमुदीरयता । सम्प्रति तु मे भवता जामातृपदे स्वपुत्रसाम्यं प्रापितस्य नूतनाऽभ्यागतस्य किमन्येनादरेण । (सस्मितं समुपवेशयति) उभयोश्चायमकारणमित्रं द्रुह्युराजश्च सम्प्राप्तः ।

गाधि: स्वागतं स्वागतं द्रुह्युराजाय । इदमासनम् (उपविशति)

अगस्त्य: (सस्मितं पश्यतीव खेलं पौरवराजं स्वयजमानम्)

खेल: (सनैराश्यं पश्यँश्चिन्तयति । स्वगतम्)

औवगिमावधिशुभोऽवसरः कुमार्याः
पाणिग्रहस्य मम भाग्यवशादतीतः ।
सर्वे वयं खलु वराय बधूटिकायाः
स्पर्द्धामहेऽद्य वृषभा इव कामधेन्वाः ॥ ३७ ॥

(वामाङ्गस्फुरणमनुभूय) शान्तं पापं । प्रतिहतममङ्गलम् ।

वामाङ्गस्फुरणाज्जाने वामाङ्गी मां न लिप्सति ।
गाधेर्दायस्य लोभेन निबन्धे प्राणसंशयः ॥ ३८ ॥

तत्सर्वथा देवाः श्रेयो विदध्युः । (अगस्त्यं प्रति) यदादिशति भवान् ।

अगस्त्य: अलमत्यर्थंचिन्तया यतः ।

पुरुद्रुह्युभृगूणां हि ख्याता वंशपरम्परा
विद्या वयो बलं वित्तं वृत्तिर्वीर्यादिकं समम् ।
वरं वरयिता कन्या स्वतारामैत्रकोचितम्
चक्षूरागवती सत्या स्वानुरूपं वृणीष्यते ॥ ३९ ॥

अगस्त्य: सम्प्राप्तश्च स्वयम्वरंमुहूर्तः श्रूयते च दुन्दुभिध्वनिर्भद्राक्षस्य विजयिन्याः सेनायाः । सम्प्रति प्रसन्नाश्च पौरजानपदाः । प्रसङ्गान्तरेण सोत्पताका सतोरणस्रजाः सध्वजाश्च नगरप्रासादाः । अतः शीघ्रं सशङ्खघण्टावाद्यं स्वयम्वरमङ्गलं सम्पाद्य सम्पाद्यमस्मिन् गोधूलिकासमये ।

गाधि: यथा दिशति श्रीभगवान् मैत्रावरुणिः । कः कोऽत्र भोः (पुरुषः प्रविशति) यथाशीघ्रमस्मिन्नेव मुहूर्ते श्रीकुमारी सत्यादेवी कृताभ्युदयमङ्गला भवतु स्वयम्वराय । अथाग्निसाक्षिकाय विवाहाय शीघ्रमेव यज्ञशालायामुपस्थाप्यताम् । एवमेव सर्वं राजमहिष्यादिभ्यः सूचनीयम् ।

अगस्त्यः सुमुहूर्तमस्तु (भद्रं कर्णेभिरित्यादि मन्त्रान्पठति)

तरणिस्तरुणीं सन्ध्यां सानुरागां प्रतीच्छति ।
वरः स्वयम्वरां सत्यां सुमुहूर्तेऽद्य विन्दतु ॥ ४० ॥

(नेपथ्ये)

पूज्यन्तां देवताः सर्वाः यज्ञाग्निश्च समिध्यताम् ।
मङ्गलानि विधीयन्तां सत्यवत्याः स्वयम्वरे ॥ ४१ ॥
अगस्त्यस्यौर्वशेयस्य और्वस्याथर्वणस्य च ।
प्रसादात्सत्यवत्या हि सत्याः सन्तु मनोरथाः ॥ ४२ ॥

(दृश्यं द्वितीयकम्)

स्थानं अन्तःपुरम् । सत्यवत्या निवसतिः ।

सत्यवती (स्वगतम्) अहो क्षिप्रकारिता तातपादानाम् । कथमित्थं मया निमील्येव चक्षुषी मण्डूकप्लुत्येवाम्भसीव निमज्यते । (दीर्घमुच्छ्वस्य) हा ! हा ! हन्त ! कन्यकानामधन्यत्वम् । सर्वत्र संसारे कन्यकाजनो दयनीयः

श्वेतच्छत्रवतां राज्ञां कन्यानामीदृशी दशा ।
धिक् प्राक्तनं कर्मफलं कन्या योनौ जनिर्यतः ॥ ४३ ॥

(सचिन्तं परिक्रम्य)

कामाद्वा राज्यलोभाद्वा खेलो मय्यनुरज्यते ।
नास्मिन्प्रेमप्रवृत्तिर्मे तन्नाहं द्रष्टुमुत्सहे ॥ ४४ ॥

चेटी भर्तृदारिके ! राजमहिष्या श्रीमत्या घोषादेव्या सन्दिष्टम् ।

सत्यवती हञ्जे किमादिष्टम् ?

चेटी शीघ्रमेवास्मिन् सुमुहूर्ते स्वयम्वरा सत्या कृताभ्युदयमङ्गला यज्ञशालायां समायातु इति श्रीमहाराजस्याज्ञा अतः श्रीदेवी समादिशति—सज्जितानि ते स्वयम्वरमङ्गलद्रव्याणि । अत्र समुपस्थिताश्च सर्वे पुरोहिता मुनयश्च बहवो राजानो राजपुत्राश्च । प्रतीक्षमाणश्च त्वां श्रीमहाराजस्तच्छीघ्रं समागच्छ त्वमपि यज्ञशालायां अस्मिन्नेव गोधूलिकासमये ॥

सत्यवती (विचिन्त्य स्वगतम्)

ऋचीकोऽथर्वणो वीरो भरताञ्जेतुमिच्छति ।
नायुतं श्यामकर्णानां सैन्धवानां स यच्छति ॥ ४५ ॥
तथापि सर्वथा श्लाघ्यं तमनादृत्य दूरतः ।
तद्भयादिव मां तातः पौरवाय प्रयच्छति ॥ ४६ ॥

चेटी भर्तृदारिके ! किमुच्यतां देवी प्रत्युत्तरे ?

सत्यवती (पुनस्तथैवाश्रुतमभिनीय स्वगतम्)

अथ कोऽपि वीरस्तेजस्वी पुण्यानुभावः स्मर इवापरो विधिवशान्मे नयनातिथिर्जातो वातायनाद्बहिः पश्यन्त्याः तेन हि स्तेनेनेव यत्सत्यं चोरितमिव मे हृदयम्—

दृशौ पुण्यात्मानं तमपरिचितं प्राप्तुमनसौ
श्रुतिः पुण्यश्लोकं वरयितुमृचीकं कथयति ।
पितुर्मातुश्चाज्ञा यदि भवति खेलं वरयितुं
त्रिधा भिन्नं चेतो भृगुपतनहेतोर्भ्रमति मे ।। ४७ ।।

चेटी भर्तृदारिके ! भर्तृदारिके ! किमुच्यतां देवी प्रत्युत्तरे ?

सत्यवती हञ्जे ! किम् ब्रवीमि ? तथापि गच्छ ब्रूहि देवीम् ।

निमील्य चक्षुर्न समे पदमेकं न धीयते ।
तत्कथं विषमं क्षेत्रमागच्छेयमितोऽन्धवत् ।। ४८ ।।
मातृदत्ताः पितुः प्रत्ताः धन्याः सन्तीह कन्यकाः ।
भृगुमेवोन्नतं प्राप्य प्रणिपातः स्वयम्वरे ।। ४९ ।।

चेटी भर्तृदारिके ! तत्रैव सम्प्राप्तो भृगुरित्यतिश्रूयते । श्रीसेनानीभद्राक्षस्तं जीवग्राहं निगृह्यानीतवान् । श्रीमहाराजेनागस्त्येन मुनिना चास्यार्घपाद्यादिकं कृतम् ।

(नेपथ्ये)

पूजिताः पितरो देवा समिद्धाश्चाग्नयस्त्रयः ।
सज्जितानि सुभद्राणि सत्यवत्याः स्वयम्वरे ।। ५० ।।

सत्यवती (वामाङ्गस्फुरणमभिनीय) हन्त ! हन्त !

मुहुर्मुहुः स्फुरन्तीह वामाङ्गानि तथापि मे ।
ताताज्ञायास्तिरस्कारः कथङ्कारं शुभावहः ।। ५१ ।।
न मातुरप्यवज्ञां च कर्त्तुमुत्सहते मनः
किन्त्वात्मा सर्वतः प्रेयांस्ततःप्रियतमो वरः ।। ५२ ।।

हन्त ! हन्त ! द्रुतमिव द्रवतीव मे हृदयम् । किमपि कम्पमानमिवाङ्गं यथाकथञ्चिद्धारयामि ।।

अन्तःपुरः परिसरं परिगाहमानो
यो रूपराशिरिव पुञ्जितदिव्यतेजाः ।

वातायनाद्विधिवशात्परिदृश्यते स्म,
तस्यापि हन्त न मया विदिता प्रवृत्तिः ।। ५३ ।।

चेटीः भर्तृदारिके ! सोऽपि राजपुरुषैः परिरक्षितो नवाभ्यागतरूपेण राजपरिषदि सादरं प्रवेशितो राज्ञापि सादरमभ्यर्चितश्चेति श्रूयते ।

सत्यवती नहि प्रायशो रूपविसंवादिकुलं शीलं वा । तथापि तावत्तस्य पूर्णरूपेण प्रत्यभिज्ञानं करणीयम् । केवलं शलभा हि रूपमात्रलोलुपाः । हृदयङ्गमः खल्वसौ महनीयो महात्मा मन्यते । तद्भद्रे शीघ्रं तस्य पूर्णपरिचयार्थमाज्ञापय प्रतीहारम् ।

चेटी यथाज्ञापयति भर्तृदारिका (गच्छति)

सत्यवती (स्वगतम्)

शरण्यो ह्यार्तानां प्रणतजनकामं वितरति
प्रतापाद्दस्यूनां हृदयवनदावं ज्वलयति ।
ऋचीको वीराणां रणशिरसि कण्डूनिकषणः
कदा मुक्तो भूयात् विधिविहितभद्राक्षनिगडात् ।। ५४ ।।

चेटी भर्तृदरिके ! प्रतीहारः कथयति—

अन्तःपुरसमीपे यो गृहीतो राजपूरुषैः ।
स एवाथर्वणो वीरो भद्राक्षेणैव दर्शितः ।। ५५ ।।

राजमहिषी श्रीमती घोषादेवी विदितसर्ववृत्तान्ता स्वयं समादिशति । उपस्थितानि मङ्गलानि । प्रस्तुतं कुसुमजयमाल्यम् । समुचितोऽयं मुहूर्त्तो वेदविहितस्य हि स्वयम्वरस्य । मिथः स्पर्द्धमानानां राज्ञां मध्ये यथा विवेकं स्वाभीप्सितं अन्यतरं वरिष्यसि । परीक्षणीया हि सर्वे राजपुत्राः इति ।।

सत्यवती यथाज्ञापयत्यम्बा (गमनं नाटयतः)

चेटी भर्तृदारिके इत इतः । भर्तृदारिके ! पश्य पश्य । अदृश्यस्वभावाश्च देवा सम्प्रति दर्शनपथमुपयान्ति ।

खुरक्षुण्णक्षोणीतलचलितगोलक्षरजसा
जगत्प्राणो लक्ष्यो विलसति वलक्षोऽम्बरतलम् ।
करैः प्रेम्णा लिम्पत्यवनिवनितां कुङ्कुमरसैः
सरागोऽयं भानुर्वरयति कृशानुर्निजरुचम् ।। ५६ ।।

सत्यवती हञ्जे सत्यं वदसि। सुभगा खल्वियं वेला। यतः—

इतो रक्तो भानुश्चरमगिरिसानुस्थिरगतिः
ततः पूर्वां मन्द्रः ककुभमपि चन्द्रो रमयति।
जगद्वन्द्या सन्ध्याप्युभयमभिवीक्ष्यापि रभसा
स्रजं सूर्यस्कन्धे क्षिपति निलयं याति रविणा॥ ५७॥

चेटी भर्तृदारिके! अचिरेण त्वमपि तथैव करिष्यसि। पुनरस्मान् सर्वान्प्रणयिजनान् विस्मरिष्यसि।

सत्यवती यदैव मेऽनुजो राज्यभारं धारयितुं क्षमः।
तदैवाहं गमिष्यामि तावन्नान्यत्र मे गतिः॥ ५८॥

चेटी तथास्तु। अहो!

हविष्मतीनां धेनूनां हृष्टपुष्टककुद्मताम्।
रम्भा शब्दसमारम्भे विहितं स्यात्समीहितम्॥ ५९॥

सत्यवती हला! प्राप्तावावां समुद्दिष्टे स्थाने।

एषा रम्या शुद्धलोकाधिगम्या
सिद्धैर्जुष्टा वेदमन्त्रैर्विघुष्टा।
वेदीगर्भा प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा
पुण्यज्वाला हव्यगन्धाग्निशाला॥ ६०॥

नमो नमोऽग्निभ्यः। नमो नमो विप्रेभ्यः। नमो नमो गुरुजनेभ्यः।

(निष्क्रान्तौ)

(दृश्यं तृतीयकम्)

स्थानं पुनर्यज्ञशालायाम्

(नेपथ्ये)

एकान्ते निजकान्तयाङ्कगतया रन्तुं विसृष्टांशुक-
श्चण्डांशुश्चरमाचलेऽतिललितः पिण्डाकृती राजते।
पूर्वाशामवलम्बितोऽमृतकरो गोधूलिकाधूसरो
निर्नक्षत्रनभोऽङ्गणे सुरगुरुः शुक्रोदयं प्रेक्षते॥ ६१॥
वाद्यन्ते विपुला मृदङ्गपटहास्तूर्यस्वनः पूर्यते
विप्राः स्वस्तिपरायणाः शुभमृचां पारायणं कुर्वते।
हूयन्ते हविषाऽभितः सुरभितद्रव्यैर्गृहस्थाग्नयो
नार्यो मङ्गलगायनैर्लयपरा गायन्ति वैवाहिकम्॥ ६२॥

गाधिः पुत्रिके !

सोमगन्धर्ववह्निभ्यः प्रकृत्या प्रतिपादिता ।
तुरीयाय वराय त्वं वरयाथ मनुष्यजम् ॥ ६३ ॥

पुरोधाः पतिंवरे इत इतः

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशं गृहाण हस्ते शुभगन्धमाल्यम् ।
परीक्ष्य भूयं स्वमनोऽनुरूपं पतिं वृणीष्वात्मनि मा हृणीष्व ॥ ६४ ॥

सत्यवती आर्य !

रमाधवो माधवधातरश्च त्रयोऽथ मातापितरौ गुरुश्च ।
त्रयस्तथाऽभ्यागतलोकपालास्त्रयोऽग्नयो मे प्रथमं प्रणम्याः ॥ ६५ ॥

पुरोधाः युक्तमेतत् । मनसैव सर्वान्पूज्यान्सम्पूज्येतो दक्षिणतो गन्तव्यम् । (तथा करोति) स्वयम्वरे ! एष तावत् ।

पुरूणां पूर्वेषां प्रथितयशसामेष चरमो
रमाराध्यो मारात्तव करवरं वाञ्छति चिरात् ।
कुले शीले वीर्ये वयसि विनये वित्तविभवे
विनोदे श्रीखेलः खलु निखिललोकान्विजयते ॥ ६६ ॥
(तमदृष्ट्वैव सत्यवती दूरमिव पश्यति)

ऋचीकः अहह

न सहनीयः कातराक्ष्याः कटाक्षः

पृथुजघननितम्बोऽस्याविलम्बस्य हेतुः ।
यदि कथमपि खेलं हेलया सा वृणीते
अपहृतमिव मन्ये प्राक्तनं मत्कलत्रम् ॥ ६७ ॥

अहो भाग्यं यत्सा बाला भूयो भूयो मय्येव नयनयोः सापि कटाक्षैः सर्वलोकानपवार्यैव मय्येव पश्यति । तथापि—

यावद्वालाकरे माला तावन्मे संशयाकुलम् ।
नरकस्य च नाकस्य मध्ये दोलायते मनः ॥ ६८ ॥

सत्यवती (सावहेलं खेलादग्रतश्चलति)

खेलः

अनिच्छन्तीं नेच्छाम्यहमपि परस्येव रमणीम्
न काम्यं तद्राज्यं यदिह ललनायौतुकमयम् ।
यदा मां श्रीमैत्रावरुणिररुणद्विग्रहपदात्
तदैव त्यक्ताशोऽभवमविजिताशोऽपि नियमात् ॥ ६९ ॥

ऋचीकः अहो पारिप्लवं मे मनोऽनुभवति ।

त्रैलोक्ये हि विजेतव्ये लोकस्त्वेको जितोऽधुना ।
द्रुह्यामि द्रुह्यवे राज्ञे द्वयोर्मध्येऽयमागतः ॥ ७० ॥

पुरोधा स्वयम्वरे देवि ! इत इतः ।

अयं द्रुह्योर्वंशं विकचयति दीनार्तशरणम्,
सदारोऽप्यौदार्यात् श्रियमपि परैर्हारयति यः ।
स्वकीयां सत्कीर्त्ति दिशि दिशि गृहाद्दूरमकरोत्
प्रिया सत्या वाणी खलु तव सपत्नीव सुखदा ॥ ७१ ॥

सत्यवती तदवगणय्य स्मयमाना अग्रतश्चलति ।

पुरोधा अयमपि तस्या मनोऽनुकूलो मनागपि नाभूत् ।

द्रुह्युः वस्तुतो नाहं कन्यार्थी इदानीं कौतुकमात्रं द्रष्टुमिच्छामि ।

ऋचीक जितलोकद्वयं सम्प्रत्यङ्गं स्फुरति मे शुभम् ।

माल्ये दोलायमानेऽस्याः मनो दोलायते मम ॥ ७२ ॥

पुरोधा स्वयम्वरे देवि ! इतस्तावत् ।

प्रवीरोऽयं प्रीताद् वरमवरयत्पाशिवरुणात्
सरस्वत्योः पारेऽव्रजदखिलविद्याद्युसरितोः ।
प्रतापे दस्यूनां हृदयवनधुग्दुर्गदहनः
ऋचीको वीराणां रणशिरसि कण्डूनिकषणः ॥ ७३ ॥

सत्यवती सलज्जं तिष्ठति ।

पुरोधा (अपवार्य) इयं स्फुरद्वामकृशाङ्गयष्टिः

प्रकम्पमाना जयमाल्यहस्ता ।
क्षणं परिस्विन्नमुखं प्रमार्ष्टि-
प्रसन्नरोमाञ्चितकुञ्चिताक्षी ॥ ७४ ॥

ऋचीकः यदा समुल्लङ्घितभूधरद्वया
हृदा समुत्तोलितभूधरद्वया ।
परिश्रमाम्बुस्रवणेऽतिविह्वला
नितम्बिनी कामयतेऽत्र विश्रमम् ॥ ७५ ॥

सत्यवती (परितः परिक्रम्य सजयमाल्यं करयुगलं संयोज्य यज्ञाग्निं च गुरुजनञ्च तिष्ठत्येव प्रणम्य स्वकरस्थं विजयमाल्यं धैर्येण श्रीऋचीकस्य मुकुटोद्देशात् आनीय स्कन्धं परिधापयति)

ऋचीकः अग्नयः साक्षिणः सन्तु, साक्षी भवतु भास्करः।
देवता गुरवो विप्राः, साक्षिणः सन्तु वो नमः॥ ७६॥

इति सत्यवत्या दक्षिणपाणिं गृहीत्वा स्ववामभागे समुपवेशयति

त्रैलोक्ये विजयं प्राप्य मत्सुखं समवाप्यते।
तदेव मूर्त्तिमद्भूतं प्रियायाः पाणिपीडने॥ ७७॥

कल्हारगन्धिमरुदावहतीह मन्दम्
चन्द्रः सुधांशुभिरिहामृतमुक्षतीव।
प्रेमत्रपासहितसाध्वसदृष्टिरस्याः
स्वाभाविकीं मम मनोविकृतिं तनोति॥ ७८॥

सत्यवती (स्वगतम्) हृदय! ताम्यसि काम्यमवाप्य किम्
किमनयं परमं परिकम्पसे।

सपदि मे परिवर्तिनि जीवने
स्थिरतरं रतरङ्गमभीप्ससे॥ ७९॥

(नेपथ्ये)

वाद्यन्ते सहसा मृदङ्गपटहा ढक्का डिमा डिंडिमाः
दिव्या दुन्दुभयः सघण्टघनिताः शङ्खाद्यसंख्यस्वनाः।
स्फीतैर्मङ्गलगीतकैः कलकलैर्लीलावतां क्रीडताम्
सानन्दं समहोत्सवः परिणयः कुर्याज्जगन्मङ्गलम्॥ ८०॥

अगस्त्यः महाराज! राजेश्वर! धन्यो भवान्। दिष्ट्या देवाः पुष्पैर्वृष्टिं कुर्वन्ति।

जाता जामातृलब्धिस्ते पुत्रलब्धिपुरःसराः।
दौहित्रस्यानुरूपस्य सुखं द्रक्ष्यसि वर्षतः॥ ८१॥

ब्रह्मखेलौ दिष्ट्या कार्यं सुसम्पन्नं सानन्दं शान्तिपूर्वकम्।
पुण्यप्रभावस्ते राजन् वर्द्धतामुत्तरोत्तरम्॥ ८२॥

सत्यव्रती (सलज्जम् सज्जयति स्वमाल्यं चेट्यौ सत्यवत्यथर्वणयोरुभयतः चामरव्यजने दोलयतः। मात्रादयो नीराजनं कुर्वन्ति चाशिषं भूषणादिकं प्रयच्छन्ति)

गाधिः धन्यवादाः खलु वः सर्वेषाम्। सम्पादितमिदं मे भवद्भिर्महत्कार्यम्। भूयश्चानुगृहीतोऽस्मि भवता भाविकल्याणवाणीविनोदेन।

अगस्त्यः महाराज! भरतश्रेष्ठ! आशीर्वादस्तु न विनोदरूपाः।

पूर्वज्ञातभविष्याणां व्याहारा निश्चयात्मकाः ।
न तेषु कार्यः सन्देहो देहस्ते स्यात्पुनर्नवा ॥ ८३ ॥

गाधिः महान् खलु भवता सर्वेषां अस्मास्वनुग्रहः ।

हृता चिन्ताभयोद्वेगा शत्रवो मित्रतां गताः ।
उत्तरोत्तरकल्याणैर्विश्वं मित्रं ममाधुना ॥ ८४ ॥

ऋचीकः विश्वमित्रं नामपदं प्रियं श्रूयते । अधुना पुनश्चरिष्यामि वरुणव्रतं येन वरुणप्रसादाद् यथा मेऽद्य सत्या बभूवुराशिषः तथा सत्या भवन्तु यजमानस्य कामाः ।

अस्तंगतेऽरुणरथे वरुणस्य वेला,
सायान्तनी शुचिरुपेतवती सतीव ।
सन्ध्यामुपासितवतां वरुणप्रसादा
द्विस्तीर्यते विपुलवृद्धिरभीष्टसिद्धिः ॥ ८५ ॥

गाधि : भगवत्तस्तु वः सिद्धिरस्माकमपि शुद्धये ।
वयन्तु वार्धके भावे नित्यकर्मसु चाक्षमाः ॥ ८६ ॥

मद्राक्ष : श्रीमान् ऋचीकः सर्वदा मित्रभावेनास्मद्देशमागतः दशसहस्रश्यामकर्णानां श्वेताश्वानां शुल्करूपाणां संङ्ग्रहं कृत्वा सोऽत्र कन्यार्थी समागमत् । किन्तु तां तां स्वयम्बरे स जितवान् इति हर्षो नः ।

ऋचीक : भूर्वेदिरन्तरिक्षाङ्गो दिवप्रापणदक्षिणः ।
सप्तजिह्वो हविर्द्रव्यम् जमदग्निः पुनातु वः ॥ ८७ ॥

अगस्त्य : जमदग्निः प्रसीदतु । इत्याशिषं प्रयच्छति ।

। निष्क्रान्ताः सर्वे ।

अथ द्वितीयोऽङ्कः

शुद्धविष्कम्भः

अजमीढः आर्य पुरुमीढ ! कथमद्य पञ्जरमुक्तपक्षीव परिभ्रमसि ?

पुरुमीढः हन्त अजमीढ ! स्वतन्त्रोऽद्य संसारः । निरस्ताः दस्यवोऽथर्वणेन ।

अजमीढः किन्तु परीक्षासन्निहितेति पठन्त्यानिशीथमस्मत्सतीर्थाः ।

पुरुमीढः किं तेन ? यत्कृतकं तन्नश्वरं इत्यतो मया यत्पठितं तद्गुरवे निवेदितम् । अतः स्वच्छमस्तिष्कः स्वच्छन्दमिह विहरामि ।

अजमीढः भ्रातर्मैवं विरक्तिः । भूयो भूयोऽनुशीलनेन विद्या प्रसीदति । मन्दाश्चाभ्यासेन पण्डिताः भवन्ति । तदागच्छावां परस्परं स्मारयावः पूर्वपठितम् ।

पुरुमीढः अजमीढ ! पदमप्यधिकाभावात्स्नारकान्न विशिष्यते । अहं तु दिवसाधीतं सायं व्यपोहामि । निशाधीतं प्रातर्व्यपोहामि । किं स्मारितेन ।

अजमीढः तत्कथं निखिलवेदज्ञाः श्रीगुरुचरणाः ?

पुरुमीढः श्रीगुरोर्वामदेवस्य ज्ञानं न कृतकम् । तत्तु जन्मसिद्धम् । अन्येषां च केषाञ्चिज्ज्ञानं जन्मसिद्धमेव भवति ।

अजमीढः केषामन्येषाम् ?

पुरुमीढः विश्रुतं हि सम्प्रत्येवं श्रीभगवतोऽगस्त्यमुनेराश्रमे विश्वमित्रजमदग्न्योर्जन्मसिद्धं विद्वत्त्वम् ।

अजमीढः कौ पुनस्तावपूर्वसंस्कारवन्तौ अनन्यसामान्यप्रतिभौ ?

पुरुमीढः श्रीराजर्षेर्गाधेर्वर्षीयसोऽपि प्रातर्विश्वरथो नाम पुत्रो जातोऽथ मध्याह्ने पुनर्दौहित्रो जमदग्निः सत्यवत्याम् ।

अजमीढः अहो पुण्यप्रभावः ।

पुरुमीढः तौ नवाब्दवयस्कौ श्रीकुलपतेरगस्त्यस्याश्रमेऽयुतमितानां छात्राणां मध्ये सर्वोत्कृष्टौ जन्मसिद्धौ । यतो मुनेरजीगर्तात्साङ्गान्वेदांश्चायुर्वेदं धनुर्वेदञ्च श्रुतमात्रेणाधिगम्य सर्वज्ञाविति प्रसिद्धौ ।

अजमीढः आविर्भावः खल्वयं बालमहर्ष्योः। आश्चर्यम्।

पुरुमीढः अथ किम्? तयोर्जमदग्निर्विशेषतो ब्रह्मर्षिर्भवति। किन्तु कौशिकस्तु राजर्षित्वाय गजाश्वचर्यां भ्रमल्लक्ष्यवेधं च वेत्ति। स पञ्चभिर्धाराभिः सैन्धवसन्धावनेऽपि जवादेव परिभ्रमत्सु बहुवर्णकेषु विविधलक्ष्येषु लाघवेन विध्यति स्वनिश्चितमेव लक्ष्यम्। एवमेवोड्डीयमानपक्षिनिपातनं गम्भीराम्भसि मग्नस्य पदार्थस्योत्कर्षणंम तमस्यपि निमील्य नेत्रेऽपि शब्दवेधनं तु तयोरुभयोरेव जन्मसिद्धम्।

अजमीढः ननु प्रशंसनीयावायुष्मन्तौ पूज्यौ च लोकस्य।

पुरुमीढः द्वेषास्पदञ्च।

अजमीढः कथंम नामैतत्? अपि केनचिद्विद्वेषो दर्शितः?

पुरुमीढः अथ किम्? विश्वमित्रस्य पितृव्यौ खलु तृत्सुराजो दिवोदासश्च पैजवनश्च। पैजवनस्यापत्यं दिवोदासस्य भ्रातृजो द्वादशाब्दीयः सुदासोऽस्य प्राणेषु सम्प्रहारं कृतवान्।

अजमीढः हा धिक्!

> वर्षीयसोऽपि राजर्षेरेको वंशधरः सुतः।
> गुणवानिति विद्वेषात्प्रहृतो निर्दयात्मना ॥ १ ॥

अथ कथमासीत्स लब्धावसरः प्रहाराय?

पुरुमीढः सकलकलास्ववारपारीणौ जलसञ्चारकौशलाभ्यासाय मीनकमठमण्डूकचर्यासु स्वाभ्यासदर्शनाय महानद्यां गम्भीरतमं जलं प्रापितौ श्रीभद्राक्षाचार्येण। तत्रावधीरिताचार्यः सुदासो ग्राहचर्यया चरणग्राहं कौशिकमवाहरत्। हाहाकारपरे लोके प्राणत्यागाभिमुखे जमदग्नौ मूर्च्छितायामगस्त्यकन्यायां रोहिण्यां श्रीभद्राक्षः स्वयञ्च तदद्राक्षीत्। अथ मृत्युमुखादिव तं समुद्धृत्य बालुकायामधोमुखं निधाय मयूरमुद्रया वारुणैर्मन्त्रैश्च तदन्तर्गतं बहुलं जलं तस्य मुखनासिकाभ्यां बहिर्निष्कास्य कथञ्चिद्वमनादिभिश्च तं पुनर्जीवलोकमिहाऽनयत्। निगृहीतः सुदासस्तु तत्पित्रा पैजवनेन च गुरुभिश्च पाशबद्धो दण्डार्थमादिष्टः।

अजमीढः हन्त हन्त! द्वितीयं जन्म दत्तं द्विजाय भद्राक्षाचार्येण। तमेवमुद्धृत्य रक्षितं च कुलद्वयं मिथो युद्धे सर्वनाशात्। स्थाने तस्य ताडनंम खलु शरारोः।

पुरुमीढः किन्तु!

> धीरोदात्तो दयालुश्च कौशिको बालभावतः।
> सोऽवाञ्छत्तस्य विद्वेष्टुर्न दण्डं नावगोरणम् ॥ २ ॥

अजमीढः अहो विश्वमित्रत्वम् । किमभूत्ततो रोहिण्या ?

पुरुमीढः सुदासार्थं निश्चितं ज्ञात्वा कौशिकस्तामाश्वासयामास तदा तस्याः सन्तोषाय स्वकीयबाल्यपरिचयं स्मारयामास ।

यथा

स्वसुतयोस्तव पालितयोर्मया लघु रथोरचितस्तव नर्मणे ।
त्वमभवश्च शिशुः प्रियरोहिणि ! तव च विश्वरथः श्वरथोऽभवम् ॥ ३ ॥

अजमीढः जाने ततः परमपि नाभूदसौ मन्दोत्साहो जलचर्यायाम् । सम्प्रति दस्युमये संसारेऽस्माभिर्जलस्थलनभश्चारे पूर्णप्रज्ञैर्भवितव्यम्, नो चेत् लघुच्छिद्रमप्यस्माकं प्लवं पयसि प्लावयेत् ।

पुरुमीढः एवमेतत् ।

पौरवाः सृञ्जयाश्चापि तृत्सवः सह सङ्गताः ।
षण्मासोर्द्ध्वं नियुध्यन्ते शम्बरासुरसेनया ॥ ४ ॥

अजमीढः किमर्थं प्रारब्धमिदं युद्धम् । कोऽस्य वा हेतुः ?

पुरुमीढः वस्तुतस्तु स्वभावभेदः संस्कृतिभेदश्च । यदेव वयमार्याः घोरं पापं मन्यामहे तदेव दस्यूनां सामान्यं कौतुकम् । योऽस्मत्कृते व्यभिचारः स तेषां मते व्यवहारः । दस्युकन्याः सुरूपान् आर्ययूनः कामयन्ति किन्त्वार्यास्तासां स्पर्शमपि परिहरन्ति ।

अजमीढः अस्त्येव खल्वनार्याणां स्वभावे कुटिलत्वं स्वरूपे च श्यामलत्वम् ।

पुरुमीढः अथ ते दस्यवोऽस्माकं यूनश्च दाराञ्च दारकाञ्चापहरन्ति । सर्वथा सङ्करीकरण-प्रयोजनास्ते बद्धवैराः । नक्तंदिवं पैजवनं सुदासं हर्तुमुद्यतास्ते श्रीदिवोदासेन समुत्सादिताः ।

अजमीढः यत्सत्यं सुदासो क्रूरत्वेन शाम्बरीयोग्यः । नासौ खलु तथा रोहिणीयोग्यः ।

पुरुमीढः अत एव हि आबाल्याद्विश्वरथेन सह परिचिता सुदासं नेच्छतीह सा । किन्तु तत्र श्रीवसिष्ठस्य मुनेरनुरोधः । नारीजनाभिलाषबाधकः सर्वत्रैव आर्यजनेष्वेवं विधो ह्यविचारः । तथापि जाने सुदासोऽपि काले स्वपितरमनुसरन् सज्जनो भवेत् । पितुः पुण्यं सन्ततिमुन्नमयत्येव ।

(नेपथ्ये)

राजा तृत्सुस्तितीर्षुर्भवजलधिमधाद् ब्रह्मनिष्ठे वसिष्ठे
पौरोहित्यं स्वभूम्यामयजत बहुभिर्विश्वजिद्वाजिमेधैः ।
आसिन्धोरासमुद्रात्प्रबलदलबलक्रान्तिसन्त्रस्तदस्युः
सर्वान्यक्थानमैपीदथ शबरपतिं शम्बरं संजिघांसुः ॥ ५ ॥

अजमीढः पुरुमीढ ! अपि श्रुतम् ? सोऽयमतिथिग्वस्तृत्सुराजः स्तूयते । स एव खलसुदासस्य पैजवनस्य ज्येष्ठतातः ।

पुरुमीढः अहह ! तद्वंशे सुदासस्तु विसदृशः । किं क्रियते यदि दीपकात् कज्जलं सलिलात्कर्दमं सम्भवेत् ? किन्तु विचित्रमस्याभिधानं प्रतिभाति "अतिथिग्व इति" ।

अजमीढः अतिथिभ्य आतिथ्याय गावः सन्त्यस्येति हेतोरतिथिग्वः किमत्र वैचित्र्यम् ?

पुरुमीढः आं ज्ञातम् । श्रोत्रियातिथिभ्योऽजं गोवृषं वा निर्वपति गृहमेधी तद्भक्षणार्थम् ।

अजमीढः नहि नहि । मैवं कल्पनीयम् । स निर्वापः खलु रक्षणार्थो न तु भक्षणार्थः । अजादाज्योत्पत्तिर्गवाञ्च पयोदधिघृतैरतिथिस्तर्प्यते । घृतैर्बोधयतातिथिमिति श्रुत्याऽग्निरेव अतिथिः पूज्यते । वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् इति श्रुत्याऽग्निरिव मान्या भवन्ति सर्वेऽभ्यागताः ।

पुरुमीढः अहं पुनर्जाने गोमेधः किलायं यस्मिन् गाव आलभ्यन्ते ।

अजमीढः नहि नहि । अबुधानां खल्वेवमनुमानम् । गोमेधे नाम यज्ञे तु सर्वं गव्यमेव द्रव्यं प्रयुज्यते । यतः

गोमूत्रं गोपुरीषं च गोदुग्धं गोदधीनि च ।
गोवाजिनं गवामिक्षा गोघृतं गौश्च दक्षिणा ॥ ६ ॥

पुरुमीढः स्यादेतत् ! किन्तु वैदिकेषु विवाहेषु गौर्गौर्गौरिति गवालम्भानन्तरं समांसं मधुपर्कं वराय सम्प्रयच्छन्ति । अथात्रेदं प्राप्तं ते निग्रहस्थानम् । तदलमिदानीं दोषमोषेण ।

अजमीढः धिग्धिङ् निर्बन्धम् ! वैवाह्यस्य गुर्वाचार्याणां मिथो नर्मोपहासविलास-विनोदार्थमिदं वाङ्मात्रेण गवालम्भनं च वाराह्यघृतकुम्भोपानहञ्च विधिसूत्रानु-सारं पठ्यते । पुनस्तत्कालमेव वाङ्मात्रेण तस्य परिहासस्य प्रायश्चित्तं विधीयते माता रुद्राणां दुहिता वसूनामिति गवां त्यागो भवति । त्यागो विहापितं दानमिति गोदानमेव तद् गोदानमङ्गले विवाहे ।

पुरुमीढः अहो अधुना निःसन्देहोऽस्मि जातः । गवामनार्या हि भक्षकाः । आर्याः खलु रक्षका इति । एष तयोर्विरोधहेतुः ।

(नेपथ्ये)

दस्यूनां पर्वताभान्नवनवतियुतान् स्थूलपाषाणदुर्गान्
जित्वा कृत्वात्मसात्तान् सकलसकलुषान्दासभावं निनाय ।
आर्यावर्तञ्च चक्रे ज्वलदनलमखं सप्तसिन्धुप्रदेशम्
हव्यं कव्यं बहन्त्यस्तदनुववृद्धिरे भूरिशृङ्गाश्च गावः ॥ ७ ॥

उभौ भूरिशृङ्गाश्च गावः जयन्तु जयन्तु । जयतु च श्रीमानतिथिग्वः । जयतु स तृत्सुराजो दिवोदासः ।

पुरुमीढः अहो देवतुल्यः खलु श्रीमान् भाग्यवाँश्च राजर्षिः कुशिको गाधिमहात्मा यस्य दिवोदासनिभो भ्राता ।

दिवोदासनिभो भ्राता विश्वमित्रसमः सुतः ।
सुता सत्यवती साक्षात् जमदग्निः सुतासुतः ॥ ८ ॥

अजमीढः अथ च भार्गव ऋचीक आथर्वणः स्वयमौर्वजो जामाता यो वर्षीयसि तस्मिन् जीवत्येव सर्वं राज्यभारं स्वात्मशीर्षे निधाय कुमारं विश्वरथं गुरुकुलाद् गुरुकुलान्तरं सम्प्रेष्य पूर्णप्रज्ञे राजर्षित्वे दीक्षयति । सम्प्रत्येव ते सर्वे भारद्वाजाश्रमं गताः । किन्तु महाराजः कुशिकः सन्नयस्तकर्मा योगारूढः स्वनिर्माणसमयं प्रतीक्षते ।

(इति शुद्धो विष्कम्भः)

(दृश्यं द्वितीयकम्)

स्थानं भारद्वाजाश्रमः । तत्रोपविष्ठाः श्रीवसिष्ठश्च श्रीभारद्वाजश्च श्रीऋचीक आथर्वणश्च दिवोदासश्च । श्रीलोपामुद्रा च विश्वरथश्च जमदग्निश्च ।

ऋचीकः अतिथिग्व !

गाधिराधिविहीनोऽपि जरसा व्याधिपीडितः ।
तस्मिन्नस्ताचले भानौ त्वयि (?) श्रिता प्रभा ॥ ९ ।

तस्मादेनं सम्प्रति रक्षणीयं बालकं विश्वरथं तवाश्रयोऽहं धारयिष्यामि । तदेव श्रीमहाराजस्य राजमहिष्याश्च सम्मतम् ।

दिवोदासः श्रीभगवान् वरुणो वा मैत्रावरुणो वाऽस्य रक्षक येन स तदानीं बाल्ये कीलालकालकवलितस्तत्कालमेव समुज्जीवितः । वयं तु चिरञ्जीविनोऽस्य चेतोमात्रेण शुभचिन्तकाः ।

ऋचीकः　सुबहुमानः खल्वस्य विद्यतेऽत्रभवति । यतः सः

वारितोऽपि महामात्यैः सौजन्येनैष बुद्धिमान् ।
त्वदीयच्छत्रमाश्रित्य तृत्सुग्रामे निवत्स्यति ॥ १० ॥

दिवोदासः　स्वागतं स्वागतं तत्र विश्वामित्रस्यापि अत्रभवतोरपि ।

वरदानमिदं मह्यं प्रयच्छतमयाचितम् ।
कृतज्ञोऽस्मि हि युष्माकं करोम्येष सभाजनम् ॥ ११ ॥

कथं पुनर्मया खलु सेव्या ह्यत्रभवन्तः सर्वे तत्राभ्यागताः ।

ऋचीकः　अतिथिग्व ! किमुच्यते ।

विश्वासभूमिरेकस्त्वं महाराजस्य मेऽपि च ।
समयः स समायाति यदा भारस्त्वयि श्रयेत् ॥ १२ ॥

दिवोदासः　आथर्वण ;

प्रतीक्षेऽहं शुभं कालं यदासौ सन्निवेशितः ।
युवराजः पितुः पार्श्वे संश्रयेच्छत्रचामरे ॥ १३ ॥

ऋचीकः　अतिथिग्व !

अतिक्रान्तप्रायः स खलु समयः कौतुकमयो
महाराजो गाधिः सुभगमकरिष्यत्स्वयमिदम् ।
तदीयः सन्तोषः सुकृतनिचये येन सुमतिः
कुमारोऽयं भारग्रहणपटुरस्तु स्वबलतः ॥ १४ ॥

तस्माद्विद्याबलयुद्धकौशलसंग्रहार्थमयमादिष्टः ।

दिवोदासः　वस्तुतस्तदेवास्त्यलङ्कारः क्षत्रस्य ।

ऋचीकः　अत एवाऽयं त्वां प्रपन्नः । यतः

त्वं शम्बरेण शवरेण हि युद्ध्यमानो रक्षापरोऽसि निजदेशकुलश्रियाञ्च ।
अस्मान्समादिश च तत्र सहायहेतोर्योगोऽस्तु दस्युदहने शिखिनो मरुद्भिः ॥ १५ ॥

दिवोदासः

सर्वव्यापी मरुद्देवो दाहकोऽग्निस्तदाश्रये ।
कुशिको हि जगत्प्राणः प्राणदः प्रेरकश्च नः ॥ १६ ॥

अन्ततो मिलन्त्येव यथा सप्तसिन्धवस्तथाऽस्माकमपि सर्वेषां युद्धे सहयोगस्त्व-निवार्यः स्यात्। किन्तु सम्प्रति नितान्तं सौकुमार्यं कौमार्यमस्य कियत्कालं प्रतीक्षामेव कारयिष्यति। यतः स घोषादेव्याश्च राजर्षेर्गाधेश्च वृद्धे वयसि केवलोऽवलम्बः।

सती घोषादेवी लसति सुतिनी तेन शिशुना
स चैकाकी श्रौतश्रवणपरमोऽभ्यासचरमः।
स्वयं कालग्रासात्कथमपि जलान्तः समवितः
समिद्धेऽस्मिन् युद्धे पितुरपरिवृद्धे कथमियात्॥ १७॥

ऋचीकः नहि। स्वयमहं च जमदग्निश्च प्रस्तुतौ जातिसेवायै।

दिवोदासः प्रशंसनीयः खल्वयं प्रस्तावः। किन्तु भवन्तावपि वर्जनीयौ।

महर्षीणां वंशे श्रुतिमतिः मुनीनां मुनिवरो-
ऽस्त्ययं सत्यासूनुः स्वयमपि महर्षिः खलु भवान्।
जगत्याः कल्याणं भवति किल युष्मत्सुमनसा
सुवाचा स्वाशीर्भिः किमिह भवतो शस्त्रधरणैः॥ १८॥

वसिष्ठः राजन् अतिथिग्व! तेजस्वी कौशिकः कुमारोऽपि न सुकुमारः समधीतवेदो-पवेदोऽपि सोऽनभ्यासादसम्पूर्णः। तस्मादयं श्रीकृशाश्वमुपास्ताम्। तस्मै पात्रभूताय स रहसि सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि समर्पयिष्यति। भूयः श्रृणु ममापि यन्मतम्।

सम्प्रत्याबालवृद्धैश्च स्त्रीपुंसैः सार्ववर्णिकैः।
स्वधर्मजातिरक्षार्थं युज्यते शस्त्रधारणम्॥ १९॥

भारद्वाजः युक्तमुक्तं महर्षिणा।

ब्रह्मर्षिभिर्नृपालैश्च ब्रह्मक्षत्रात्मिकं बलम्।
संयोजनीयं धर्मस्य त्राणायार्यजयाय च॥ २०॥

लोपामुद्रा अहो! स्त्रियोऽपि शस्त्रग्रहणाय सम्प्रति समादिश्यन्ते श्रीमहर्षिणा वसिष्ठेन। श्रीतातपादाश्च तद्वचनमनुमोदयन्ति। तत्किं मयापि शस्त्रशिक्षाग्रहणायाग्रतो गन्तव्यं स्यात् अगस्त्याश्रमम्। तत्र किं भगवानगस्त्यः स्वयमेव मां शिक्षयिष्यति।

भारद्वाजः अतिथिग्व! आथर्वण! . . . . . .

अपि सम्पूर्णविद्योऽयं कौशिको राज्यहेतवे ।
कृशाश्वाज्जृम्भकाख्यानां दिव्यास्त्राणां निधिं भजेत् ॥ २१ ॥

तादृशैः सम्मोहनास्त्रैः दुःष्टानां दस्यूनां वधोऽपि न भवेत् । लोके च शान्तिः स्यात् । क्रमशः शिष्टाश्च सन्तु शनैः शनैर्दस्यवः ।

लोपामुद्रा अहो सुचारु सुकुमारः कौशिकोऽयं मामुपस्नेह्यति खल्वगस्त्यशिष्यत्वात् । यथा रोहिणी तथैवायमपि स्नेहपात्रम् ।

ऋचीकः वत्स कौशिक ! अपि कृशाश्वं जृम्भास्त्रहेतोर्भवानुपासिष्यते ?

कौशिकः तत्रभवन्तो भगवान्वरुणश्च प्रमाणम् । अहन्तु सोत्साहश्चाज्ञावशम्वदश्च । अथ केयमत्र दीप्यतेऽगस्त्याश्रमे रोहिणीव ?

ऋचीकः अये लोपामुद्रेयं भारद्वाजी मुनेरपत्यकृतका ।

लोपामुद्रा (अथर्वणं प्रणमति) भगवन्नमस्ते ।

ऋचीकः उषः समाना स्यास्तेजसि निर्जरत्वे च । देवि ! त्वां प्रति स्निह्यन्तीवेमौ कुमारौ जमदग्निविश्वरथौ ।

लोपामुद्रा अहो साक्षादृचीकस्यैव कौमारावतारोऽयं जमदग्निः

सत्यवत्या ऋचीकस्य पुण्ययोरुद्गमोऽस्त्ययम् ।
स्नेहवर्तिकयोर्योगाद्दीपकादिव दीपकः ॥ २२ ॥

(कौशिकं प्रति) कुमार ! इतोऽपि तावदेहि । (सस्नेहं परामृश्य) अपि नाम कुशलं श्रीमैत्रावरुणेर्वत्साया रोहिण्याश्च ।

कौशिकः आम्, अस्ति कुशलं किन्तु मत्कारणादकस्मान्मूर्च्छितायाः नाद्यापि सम्यक् स्वस्थता श्रीरोहिण्याः । तस्योपचारे लग्नो भगवानगस्त्यो नहि तामेकाकिनीमाश्रमे त्यक्तुमुत्सहते ।

लोपामुद्रा हा ! तस्या जननी श्रीभगवती खलु दस्युत्रासेन महामूर्च्छां प्रतिपन्ना । ततः परं दस्युत्रासान्तकः समभवद् भगवानगस्त्यः । किन्तु दुःखमयं जीवनमुपरतपत्नीकानां तपस्विनामपि । पुनः कथङ्कारं चलतु खल्वेकचक्रो गृहस्थरथः । तथापि यथा त्वं तस्याश्रमेऽद्वितीयस्तथा सा रोहिणी च गुणेष्वद्वितीया ।

कौशिकः (प्रसङ्गवार्तां व्यावर्तयन्) देवि ! कस्मादयमातङ्को दस्यूनाम् ?

लोपामुद्रा

दस्यवो नरमांसादा स्त्रीचौरा रक्तमद्यपाः ।
सिंहव्याघ्राधिकं तेषां दर्शनात्स्पर्शनाद्भयम् ॥ २३ ॥

यत्सत्यं तत्स्मरणे च कम्पते हृदयं जायते च रोमाञ्चः ।

कौशिक अहन्तु वन्यपशुभ्योऽपि न बिभेमि किम्पुनर्मनुष्येभ्यः ? कुरूपत्वाद्भयङ्कराः कथ्यन्ते ते त्वार्येभ्यो बिभ्यतीति श्रूयते ।

जमदग्निः तात! कः खलु प्रत्यभिज्ञानार्थमार्यदस्युजात्योर्विशेषः ? किं दस्यवः शृङ्गयुताः पुच्छयुता वा ?

ऋचीकः वत्स !

गौरोन्नता रुचिरलोचननासिकाग्राः
आर्या ह्युदारचरिताः स्फुटभाषिणश्च ।
यज्ञैर्र्चयन्त्यनलसोमरवीन्द्रदेवान्
सम्पूज्य साज्यबलिभोजनहृष्टपुष्टाः ॥ २४ ॥

जमदग्निः अथ दस्यव कीदृशाः ?

ऋचीकः अतो भिन्नरूपा हि दस्यवः प्रत्यक्षं परिचीयन्ते सुदूरादपि ।

कृष्णत्वचश्चिपिटघोणविरूपनेत्राः
नात्युन्नताः पृथुलकर्णपुटौष्ठदंष्ट्राः ।
घोरा बलात्परधनाहरणप्रवीणाः
क्रव्याशिनो निशिचराः पृथुलिङ्गदेवाः ॥ २५ ॥

जमदग्निः कस्मिन् ग्रामे पुरे वा तेषां तावन्मन्दिराणि ?

ऋचीकः

पाषाणदुर्गरसिकाः खलु दस्यवस्ते
प्रायो वसन्ति पशुवद् गिरिकन्दरासु ।
ते शर्वरीषु शवरा सह शम्बरेण
लोकं विलुण्ठ्य निकटास्वटवीष्वटन्ति ॥ २६ ॥

इतः पश्यास्माकन्तु—

टङ्कप्रहारपरिमार्जितलोहकाष्ठ-
पक्वेष्टकादिविहितेषु मनोहरेषु ।
त्वष्ट्रप्रसाधितसुचारुविदीर्णदारु-
द्वारेषु मन्दिरवरेषु वसन्ति चार्याः ॥ २७ ॥

दिवोदासः नहि त्वं जानासि वत्स ! यद्दस्यूनां त्वार्याः स्वभाववैरिणः ।

सङ्घर्षोऽभवदहहा विशां च दासैर्हेतुस्तत्र तु समभूत्स्वभावभेदः ।
बाह्यं कारणमभवत्कुरूपतैषां क्रूरत्वं जनहरणं तु मुख्यदोषः ॥ २८ ॥

कौशिकः तात ! न खलु केवलं जातिपरा हि गुणदोषाः । यतश्चौर्याद्द्हापहारः क्रौर्यात्प्राणेषु सम्प्रहारस्त्वार्याश्च कुर्वन्त्येव । तत्कथं दस्यूनामेव दोषाः भवन्त्यक्षम्याः ? किमर्थं तेषां समूलनाशाय खल्वेतावान्महान्प्रयत्नः ?

सुदासः (लज्जां नाटयति) अहह ! कथ्येव कौशिकस्याक्षेपः ।

दिवोदासः अहो समुचितमुपालब्धाः स्मः प्रज्ञावतानेन कुमारेण ।

लोपामुद्रा एवमेतत् ! अत एव सर्वतोभयः संसारः । श्रीभगवती उपादेवी यथा दोषाभीता तथैव दिवाभीता । अतः सा तयोरुभयोर्मध्यस्था सायं प्रातः प्रत्यहं सन्धिं कारयति ।

कौशिकः सत्सङ्गेन सदन्नेन संस्कारेणोपदेशतः ।
अनार्योऽपि भवेदार्यो ममैषा निश्चिता मतिः ॥ २६ ॥

विश्वमार्यं विधातव्यं दस्यवः पशवोऽपि वा ।
शनैः शिक्षां ग्रहीष्यन्ति लप्स्यन्ते चार्यचारुताम् ॥ ३० ॥

लोपामुद्रा अहो साधु साधु । प्रस्तावो विश्वमित्रस्य कस्य नो हृदयङ्गमः ।

वसिष्ठः नहि दस्युसंसर्गः कार्यः । संस्कारात्प्रबला जातिर्जातिदोषास्त्वनश्वराः

उपदेशोऽपि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
नीचेषूपकृतं व्यर्थं वालुकास्विव मुद्रितम् ॥ ३२ ॥

नहि खलु गर्दभाः कदापि गावो भविष्यन्ति प्रयत्नेन । नहि कीटेषु पक्षिषु मृगेष्वपि मिथो जातिपरिवृत्तिर्दृश्यते । राजन् दिवोदास ! आर्यजातिस्तु सङ्करीभावाद्रक्षणीया ।

स्वर्णे गौरत्वं भवति मलिनं दस्युमिलनात्
स्वभावे कालुष्यं भवति मदनिर्वासितदमः ।
अनार्याणां सङ्गत्यजनविधिना स्यादिह विशाम्
न जातिः सङ्कीर्णा न खलु विकृता संस्कृतिरपि ॥ ३३ ॥

कौशिकः महर्षे ! क्षम्यताम् ममाविनयं स्वतुच्छमतिनिवेदितः ।

मनुष्याणां वृत्तिर्भवति बहुधाऽन्नेन पशुभिः
परन्तु श्रेष्ठानामधमितधनैर्दासनिबहैः ।
जितानां दस्यूनामपहृतधनानां निधनतो
न लाभो स्त्यार्याणां न च भवति दासत्वमचलम् ॥ ३४ ॥

लोपामुद्रा　जानेऽद्यतना दासाः श्वस्तना स्वामिनः स्युः ।

कौशिकः　सर्वत्रैव निन्दनीया खल्वियं दासप्रथा । यद्यार्या दस्यून् दासीकुर्वन्ति तद्दस्यूनामप्यस्मद्दासीकरणे को नाम दोषः ? शिष्टानुकरणमेव तत् ।

लोपामुद्रा　अहो न्याय्यः खलु तर्कः कुमारस्य । किन्तु वस्तुस्थितिस्तु प्रत्यक्षदर्शनं विना नहि ज्ञातुं शक्यते ।

भारद्वाजः　वत्स ! न खलु नाममात्रेण किन्तु गुणेन च विचारेण च त्वं विश्वस्य मित्रमसि । तच्चिरञ्जीव । वस्तुतः

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च लोकस्तथा कृष्णवर्णश्च शुक्लः ।
तमोर्वरः को ह्यवरोऽथ को वा कस्यास्तु पुत्रो वक्तुं यो निश्चयेन ॥ ३५ ॥

विश्वमित्रः　(सहसा वामाक्षिस्पन्दनमनुभवति) शान्तं पापम् ।

वसिष्ठः　(ईषद्रोषात्) तदा स बालबुद्धिर्विश्वमित्रत्वमेष्यति शुष्कतर्की तदा च तदनुमोदिका लोपामुद्रापि जातिभेदस्यानुभवं करिष्यति यदा तावुभावपि शम्बरेण निगृहीतौ स्याताम् ।

ऋचीकः　शान्तं पापम् । प्रतिहतममङ्गलम् । (अपवार्य)

वसिष्ठस्यापि शापोऽयं वररूपोऽस्त्वनागसः ।
लोकेषु नहि सर्वेऽपि मुनयो ब्रह्मचारिणः ॥ ३५ ॥

कौशिकः　दासीपुत्रेषु चार्याणां आर्यता न तु दासता ।
बालादपहृतेष्वेवं जातिभ्रंशो न जातुचित् ॥ ३६ ॥

लोपामुद्रा　हा धिक् ! हा धिक् ! महर्षिवचनप्रभावान्मां तपस्विनीमपि नेतुमुत्सहिष्यन्ते दस्यवः इति भीत्या कम्पे । हुः । प्रत्याक्षमिव पश्याम्यात्मानं दस्युभिरपह्रियमाणाम् ।

कौशिकः　देवि ! न भेतव्यं न भेतव्यं । कोऽत्र भयस्यावकाशः ? नाहं त्वां कदापि भयस्थाने त्यक्ष्यामि । पुनश्च—

अवटीटोन्नतनसोः कृष्णगौरत्वचोर्भिदा ।
कन्दरामन्दिरावासे मनुष्यत्वे समानता ॥ ३७ ॥

जमदग्निः भयं तु ममापि भवत्येव तेभ्यो नरपिशाचेभ्यः । किन्तु श्रीभगवतो वरुणस्य स्मरणमात्रेण पुनर्निर्भयं भवति हृदयम् ।

कौशिकः अहो ! अत्यर्थं प्रभीता खलु भीरुरियं लोपामुद्रा । यतः

उत्कम्पमानहृदया स्फुटकण्टकाङ्गी
स्विन्नानना विकृतनिःश्वसनाऽऽर्द्रपादा ।
भूयोऽपि कातरदृशा चकिता चतुर्षु
दिक्षु प्रमूढमनसा परिपश्यतीयम् ॥ ३८ ॥

(तन्मनो व्यावर्तयन्) देवि ! पश्य ,

स्निग्धोऽयं सुभगतरुः सुगन्धिपुष्पो
रुक्षोऽन्यः कुटिलतनुः सकण्टकश्च ।
सामान्यं प्रकृतिगतं तवाश्रमस्य
शोभार्थं भवति भयं न चोभयाभ्याम् ॥ ३९ ॥

जमदग्निः कौशिक !

वैवर्ण्येन च गद्गदेन वचसा स्वेदेन रोमाञ्चतः
कम्पेनाकुलदिग्विलोकिनयनक्षेपैर्वृथा सम्भ्रमैः ।
स्पष्टं भीतिवशादियं न गणयत्यन्यत्तवोदीरितम्
तद्व्यावर्तनहेतुकं कुसुमवत्कन्यामनः कोमलम् ॥ ४० ॥

तदत्र कर्त्तव्यो वारुणमन्त्रप्रयोगः ।

कौशिकः जमदग्ने ! पश्य नाम्नो माहात्म्यम् ।

साक्षादगस्त्यो भगवान् दस्यूनां भक्षणक्षमः ।
रोहिणीमातरं भीतां रक्षणे न क्षमोऽभवत् ॥ ४१ ॥

लोमहर्षिणी अतः परं नाहं मैत्रावरुणेर्नाम जातु विस्मरिष्यामि ॥

कौशिकः जमदग्ने ! नहि त्वं जानासि यल्लोकस्यैवात्र दोषः ।

बालानां हि पुरः प्रभूतभयदां वार्तां जनाः कुर्वते
वाक्यालङ्करणाय यूकमहिपन्यायेन भीर्वर्द्धते ।
यावज्जीवनकातरेयमभितो जातिश्च न ज्ञायते
दृष्टिः स्थाणुपिशाचविभ्रमवती मूर्च्छामृतिः सम्भवा ॥ ४२ ॥

जमदग्निः आम्, मूर्च्छा च मृतिश्च ? (नेपथ्ये हाहाकारः)

ऋचीकः भो भो ! को नामास्याः पूर्वकोलाहलस्य हेतुर्हाहाकारस्य ?

(नेपथ्ये)

वृद्धो गाधिर्महात्मा कुशिकसुपदभाग् राजराजः स्वदेहम्
जीर्णं त्यक्त्वाऽत्र दिव्यन्तनुममरनिभं नूतनं धारयित्वा ।
देवैर्नीतो विमाने सकलजनपदेऽयं प्रजानां विलापो
भारद्वाजाश्रमात्तत्तनत्रमिहनयेतृत्सुराजः क्रियार्थम् ।। ४३ ।।

सर्वे हा कष्टम् ! हा कष्टम् ! महानन्धकारोऽयं जगति सञ्जातः

वसिष्ठः हा हन्त !

येन राजन्वती भूमिः येन लोकोऽपि नाथवान् ।
येन धर्मोऽपि साधारो हा न गाधिरिहाधुना ।। ४४ ।।

भारद्वाजः हा कष्टम् !

अशेषगुणसम्पन्नं सृष्ट्वा कठिनं यत्नतः ।
अहो विधे कथं मोहादहरः पुरुषर्षभम् ।। ४५ ।।

अथर्वणः अहह !

अनुभवन्नु भवन्निखिलं सुखम्
विकलमित्रकलत्रकलात्मजम् ।
भुवि विहाय विहायसलालसः
सकलमेकलमेव दिवं गतः ।। ४६ ।।

अहो ! किङ्करोस्मि ? किङ्करोम्यकिङ्करोऽस्मि ।

निराधारोऽहमधुना महाराजे दिवङ्गते ।
तस्यैवाज्ञानुवर्त्तित्वान्न बुद्धिर्मेऽवशिष्यते ।। ४७ ।।

दिवोदासः हन्त ! भ्रातः !

जनकहीनजनस्य पिताऽभवः
सुतविहीनजनस्य सुतोऽभवः ।
जगति वन्धुरवन्धुजनस्य हा !
त्वमरणो मरणोत्तरमिन्द्रताम् ।। ४८ ।।

हा शोक !

मुख्यं धुर्यपदं लूनं नूनं त्वयि दिवङ्गते ।
पग्धुर्यपदस्तम्भि जीवनं व्यर्थमेव मे ॥ ४९ ॥

जमदग्निः हा ! हा !

माता तातवती येन पिता येन च तातवान् ।
तं तात ! तातत्रातारं शिरसा क्व नमाम्यहम् ॥ ५० ॥

कौशिकः हा विधे !

मयि जातेऽपि तातेन नानुभूतं सुतात्सुखम् ।
धिङ् मे गुरुकुले वासं येन नासं पितुर्मुदे ॥ ५१ ॥

अहह ! स्मर्तव्यशेषः खलु मे तातः सम्प्रति

स्वयं वृद्धो लीला शिशुरिव मया केलिमकरोत्
स्वयं वाग्मी वाचं मम समनु चक्रे विकलिताम् ।
स्वयं भोज्यात् पेयाद् व्यतरदथ मह्यं प्रथमतो
विशेषात्स्मर्तव्यः स मम शिशुभावे परिचितः ॥ ५२ ॥

भ्रातर्जमदग्ने ! भागिनेय !

प्रणतौ गुरुमेतुमानसौ दृढभावां परिषष्वजे चिरम् ।
न समेष्यति चक्षुषोः पदं तव मातुश्च ममाप्यसौ पिता ॥ ५३ ॥

किमकारि मया स्वविद्यया यदि तातोऽपि न मोदितस्तया ।
किमभून्मम जन्म वः फलं यदि वृद्धः स न सेवितोऽस्त्यलम् ॥ ५४ ॥

वसिष्ठः कौशिक ! वीर ! धैर्यमवलम्बस्व । अलं शोकेन ।

अतिथिग्व ! त्वमपि धैर्यं धेहि । नित्यं पश्यसि हृतांश्च मृतांश्च । कः शोको मरणे । वीराणां तु कदापि नोत्साहः क्षीयते । आयुषं जीवति स्म श्रीकुशिको महाराजः । सः पुत्रेण च दौहित्रेण च सुप्रतिष्ठितः । एष पुण्यश्लोकैर्लोकं विभूष्य प्रत्यक्षं स्वर्गमगात् ॥ नहि शोच्यो महात्मा गाधिः । परिसान्त्वयात्मानं च कौशिकञ्च ।

दिवोदासः महर्षे ! मृतप्रायोऽप्यहं कबन्धवद्वने विहरिष्यामि ।

भारद्वाजः राजन् ! अलं शोकेन । एतावन्मात्रः संसारः । सम्प्रति त्वय्येव सर्वस्य गोत्रस्य रक्षाभारः ।

अथर्वण: एवमेतत् । को नस्त्रातेदानीमार्यकुलस्य । भरताश्च तृत्सवश्च त्वयैव पालनीयाः । गाधेः महात्मनो वंशधरोऽयं कौशिको भवतैवाभिषेक्तव्यः ।।

दिवोदास: (कौशिकं परिष्वज्य) अहह ! वत्स !

यथा भानुर्दूरं गगनमधितिष्ठन्नपि भुवि
स्थितानस्मान्नित्यं निजनिजकृतौ योजयति हा ।
तथैवास्मान्सर्वानिहह तव तातो गुरुवरः
स्वकर्त्तव्ये कर्मण्युपदिशति च समादिशति च ।। ५५ ।।

सम्प्रति त्वमेव तत्स्थानीयोऽस्माकं नेतृत्वं प्राप्तोऽसि ।

(अश्रु परिमार्ज्य) तद्वत्स ! धैर्यमवलम्बस्व । यतः सम्प्रत्येव त्वया गन्तव्यं भरतपुरम् ।

कौशिक: तात ! नाहं पुरं गृहं वा गन्तुमुत्सहे । तातरहितं तन्मन्दिरं शून्यं भयङ्करं भास्यति । अहं तत्र जिगमिषामि यत्र प्रियस्तातो मे गतः । अहं सर्वात्मना भूयस्तातानुगमनलालसः । हा हा ! केन मुखेन गृहं गच्छानि । कथं शोकशुष्कमास्यं तत्र मात्रे दर्शयानि । ताताभावेऽधुना

को मद्वन्दनतो हृषिष्यति च मां सन्तोषयन्नाशिषा
को मां द्रक्ष्यति फुल्लनेत्रकमलः को मां परीरप्स्यते ।
को मां प्रक्ष्यति वत्स ! किं गुरुकुलेऽधीतं कथं वर्तितम
को मे श्रोष्यति वाक्यमुत्पुलकितः प्रेमाश्रुपूर्णेक्षणः ।। ५६ ।।

भारद्वाज: वत्स ! तातानुगमनं चारित्रेण न तु गात्रेण त्वया कर्त्तव्यम् ।

वसिष्ठ: कौशिकस्त्वमसि पैत्रनामतः ख्यातिमेष्यसि यदा धरातले ।
यावदुद्व्रजति भानुरम्बरे तावदस्य भविताऽमलं यशः ।। ५७ ।।

लोपामुद्रा वत्स !

जननीति तव श्रुत्वा घोषादेवी त्वदाननात् ।
सम्मूर्छिता शून्यलोकाज्जीवलोकमुपैष्यति ।। ५८ ।।

तावद्गृहं गृहं वत्स यावन्माता गृहे स्थिता ।
यत्र याति पतिस्तत्र पत्नी चेन्न सुतो गृहे ।। ५९ ।।

इदानीं त्वमेव राजमहिषीं मृत्युमुखात्स्वयमेव समुद्धरिष्यसि ।।

भारद्वाजः वत्स ! कौशिक ! भरतनगरात्सम्प्रत्येव प्राप्तस्ते मातुर्घोषादेव्या सन्देशः यदेतदाश्रमसान्निध्ये त्वामगस्त्यप्रतर्दनादयः सर्वे हि प्रतीक्षन्ते । तस्मादस्माभिः सहैव त्वया तत्र शीघ्रं गन्तव्यम् ।

कौशिकः यथाज्ञापयति भवान् । यथाज्ञापयति चाम्बा ।

भारद्वाजः पुत्रि लोपामुद्रे ! त्वयापि तत्र श्रीघोषादेव्याः परिसान्त्वनाय दुःखे समाश्वासनाय राजमन्दिरं प्रति गन्तव्यम् । ततः पुनः कौशिकस्य राज्याभिषेकानन्तरं निवर्तनीयम् ।

लोपामुद्रा हन्त ! तथैव करिष्यामि (स्वगतम्) तत्र श्रीभगवानगस्त्योऽपि राज्याभिषेकं कारयिष्यति । तत्राहं तं भगवन्तं च रोहिणीञ्च द्रक्ष्यामि ।

(सर्वे गमनं नाटयन्ति)

भारद्वाजः इत इतः (कियद्दूरं गत्वा) इतः परमारब्धा संस्थानतीर्थभूमिः ।। सरस्वत्यास्तीरे यतः ।

श्रृगालैः कुक्कुरैः पूर्णमवकीर्णं नरास्थिभिः ।
ग्रहीष्यामो महामार्गं निकटप्रेतकाननम् ।। ६० ।।

वसिष्ठः अहो स्वच्छेयं सरस्वती स्थाने स्थानेऽस्मिन्नुग्रगन्धिभिर्दग्धशेषैर्भित्सा ।

दिवोदासः एभिः श्यामैश्च गौरैश्च शवैर्गोमायुलुण्ठितैः ।
आर्याणामपि दस्यूनां सामान्या सूच्यते गतिः ।। ६१ ।।

ऋचीकः धिग्धिक् कदर्थयन्त्यस्मान् मक्षिकाः शतकोप्याः ।
मृते च जीविते देहे गृध्रकाकाविवेकिनः ।। ६२ ।।

भारद्वाजः अगस्त्यप्रमुखाश्चामी पौराश्च नियुताऽयुताः ।
विश्वामित्रं प्रतीक्ष्यन्ते राजसंस्कारहेतवे ।। ६३ ।।

आथर्वण ! त्वं राजमहिषीं घोषादेवीमभिजीवलोकं निवर्त्तय । ततो निवेद्यतां चान्तिमः संस्कारोऽस्तीतस्य श्रीगाधेर्महात्मनः । निर्गतेषु नारीजनेषु वयमपि मिलित्वा राजमन्दिरं प्रतियास्यामस्तत्र यथावसरं नूतनस्य महाराजस्याभिषेकं कारयिष्यामः ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे । यवनिकापतनम्)

(नेपथ्ये)

दिवङ्गते गाधिनि राजराजे राज्यासनं प्राप्स्यति विश्वमित्रः ।
यावत्स विद्यामधिगन्तुकामस्तावन्महीं शास्तु च राजमाता ।। ६४ ।।

इयं लोपामुद्रा सहितमयते राजजननी
अगस्त्योऽयं सिंहासनमधिनिधत्ते कुशिकजम्
इमं देवा शक्रप्रतिममनुतिष्ठन्ति सुधिया
भरद्वाजाद्यास्तं नृपतिमभिषिञ्चन्तु मुनयः ।। ६५ ।।

सर्वे तथास्तु ।। जयतु जयतु कौशिकः ।।

(नेपथ्ये)

समाप्तविधे कुशिकाङ्गजाते राजाभिषेको भवितोत्सवेन ।
तावत्प्रजाः पास्यति राजधात्री प्रबन्धकर्त्ता भवतादृचीकः ।। ६६ ।।

सर्वे तथास्तु ।

।। इति द्वितीयोऽङ्कः ।।

इति श्रीश्रीकृष्णशुक्लज्योतिर्विद्विद्याभूषणधर्माचार्यकविसुधांशुविरचिते कृतार्थ-कौशिकनाटके द्वितीयोऽङ्क : ।।
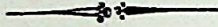
अथ तृतीयोऽङ्कः

शुद्धविष्कम्भो राजदूतयोः

देववातः भो भो देवश्रवः! धन्यं खलु ते मेघ्याश्वधौरितकम्। मार्गप्राप्तमपि मामपरिचीय वातवेगेन समुल्लङ्घसे ?

देवश्रवाः अहो! देववात! कमठावतारमन्थर! क्षमस्व मे प्रमादम्। नाहमितस्ततः पश्यामि कालातिपातभयात्।

देववातः अपि जानास्यावयोः शशकमठयोः स्पर्द्धास्पर्द्धिधावनं किं प्रयोजनम् ?

देवश्रवाः राजकार्यं हि तत्कारणम्। राजमात्रे प्रथमः सन्देशस्त्वया वक्तव्यः पुनस्तदपह्नवाय तत्कालमेव द्वितीयः सन्देशो मया वक्तव्यः।

देववातः किमर्थं प्रतिकूलौ सन्देशौ ?

देवश्रवाः त्वया वक्तव्यं श्रीकृशाश्वतो दिव्यास्त्राण्यादाय श्रीयुवराजः प्राप्स्यति श्वः प्रभाते तस्य स्वागतं कार्यमिति। मया पुनर्वक्तव्यं श्रीयुवराजो दस्युभिरपहृतः श्रूयते इति।

देववातः अहह! दुःश्राव्यं तत्। कथं पुनर्ज्ञातम् ?

देवश्रवाः श्रीकौशिकस्य स्वागताय ऋक्षजमदग्निप्रभृतयः सरस्वतीतीरे मिलितास्तदनुसन्ध्यायां ऋक्षश्च कौशिकश्चाष्टाभिर्दस्युभिः प्रत्यक्षमपहृतौ। तौ मृगयन्तो जमदग्निमुखा धीवरेभ्योऽखिलां वार्तामुपश्रुत्य श्रीगुरवे निवेदितवन्तः।

देववातः तन्नाहं मिथ्याभूतं सन्देशं ब्रवीमि तवैव सन्देशोऽत्र पर्याप्तः॥

देवश्रवाः स्वं स्वं सन्देशं यथापूर्वपरं निवेदनीयम्। अन्यच्च सर्वं यथाज्ञानम्। तावश्वे समारोप्य गिरिदुर्गं नीतौ। तत्पदानुसारिभिर्मार्गे ऋक्षस्य कटकं च कौशिकस्य माल्यञ्च प्राप्तमित्यपि निवेदनीयम्।

देववातः वयस्य! तेन विज्ञातदिव्यास्त्रेण वीतशिरोमणिना किमर्थमङ्गीकृतं दस्युबन्धनम् ?

देवश्रवाः तत्र दस्यूनां दुर्गसैन्याद्यष्टाङ्गस्य सर्वस्य व्यवहारस्य च सम्यग्ज्ञानं कृत्वा नीतिकौशलेन तेषां छिद्राणि विज्ञाय स प्रतिविधानं करिष्यतीति मन्ये।

देववातः इतोऽगस्त्यस्य सर्वार्यस्य राजकस्य सैन्यसङ्ग्रहं कृत्वा कुमारोद्धाराय कटिबद्धः प्रयतते । अहो प्राप्तावावां गन्तव्यस्थानम् ?

देवश्रवाः अपि सत्यम् ? आम् सत्यमेव सम्प्राप्तौ । इयं राजवाटिकायं राजमार्गः । असौ धवलवारिदप्रायो राजप्रासादः । पश्य—

पन्थानः परिमार्जिताः सुरभितैर्वाभिधृता रेणवो
वृक्षाणां विततिः पथोभयतः सेनेव साम्ये स्थिता ।
सर्वत्र त्रिपथेषु राजपुरुषास्तिष्ठन्ति वेत्रान्विताः
गन्तव्यं पदमादिशन्ति रजनीभासाश्च दीपद्रुमाः ॥

देववातः अहो मध्यंदिनं जातम् । परिश्रान्तौ चावाम् । तच्छायायां तावत्स्वेदभाजनं विधेयम् ।

(नेपथ्ये)

भानुर्मध्यङ्गगनमगमत् च्छिद्रवण्ट्योऽम्बुमग्नाः
स्वीयां छायां हरति विटपीझल्लरस्ताड्यमानः ।
कुक्कूनादैर्युगपदभितस्ताम्रचूडाः क्वणन्ति
घोषा देवी श्रयति सदनं विश्रमार्थं क्षणाय ॥ २ ॥

देवश्रवाः सम्प्राप्तोऽयमवसरः सन्देशनिवेदनाय । किन्तु तां दुःखदां वार्तां तस्यै सुकुमार-चेतसे कथं श्रावयिष्यावः । अथवा नियोगः खल्वयम् । (गच्छतः)

(समाप्तो विष्कम्भकः)

दृश्यम् १

स्थानं वनमार्गः

प्रविश्य शम्वरसैनिकस्तुग्रः । निबद्धौ ऋक्षकौशिकौ ।

ऋक्षः पुत्रोऽस्मि दुर्दममुनेर्द्विजांशपूज्यः
शिष्योऽप्यगस्त्यसदृशस्य तपोधनस्य ।
हा हा वताद्य मनुजस्य निरागसो मे
बन्धः पशोरिव कृतेः पशुबुद्धिभिर्मे ॥ ३ ॥

कौशिकः नूनं वयं प्रियवयस्य भयं न जातु
कुर्मो दृढस्य शिथिलस्य च बन्धनस्य ।
नित्यं न बन्धनमिदं यदवश्यमावां
नक्तं जिघत्स्यति मुदा खलु दस्युराजः ॥ ४ ॥

ऋक्षः भोः ! निर्भीकवद्वदसि कौशिक हास्यपूर्णः
सत्यं हि भक्षयति मानवदेहमेषः ।
क्रव्यादराज इति यस्य जगत्प्रसिद्धिः
स ह्यावयोर्न खलु तृप्यतु मांसपाकैः ॥ ५ ॥

तुग्रकः ले ले पछवो मा वदत । मौनं कुलुत ले मौनं चलत ॥

कौशिकः भो सैनिक !

वक्तुं स्वतन्त्राः पशवोऽपि बद्धाः
वक्तुं ध्रियन्ते शुकसारिकाद्याः ।
का हानिरस्मद्वचने तवास्ति
त्वमेव वक्ता भव चेत्तवेच्छा ॥ ६ ॥

अहं प्रसन्नः प्रकृतिं निरीक्ष्य
त्वं च प्रसन्नो भव नौ निबध्य ।
अयं वयस्यस्तु भयाकुलो मे
शृणोतु कीर्त्तिं स च शम्वरस्य ॥ ७ ॥

तुग्रकः छम्वलो लाजा महाबीलो । तस्य पलिचलाश्च महाबीला अहं तुगलको नामास्य सेनापतिप्लधानो ।

कौशिकः रे तुग्रक ! सेनापते ! किं भुक्त्वा युष्माकं वीरत्वं भवति ?

तुग्रकः वयं नित्यमाखेटं कुल्मो हलिनाञ्छछकान् बल्कलान्भच्छयामो वाघलादिमांछं न भच्छयामो । मांछमच्छिमांसं न वलम् ।

कौशिकः वयस्य ऋक्ष ! सर्वत्रास्य रकारस्य लकारः शकारस्य छकारः । एतावानेव तुग्रकस्य भाषायां विशेषः । तन्मात्रमेव त्वं विजानीहि ।

तुग्रकः गोमहिषहयगर्दभऊष्ट्रटरं घोटकं न मालयामो मलितान् खादामो । तत् छलवं छाकं फलं नालिकेलं केलादि फलं लसं मधुलसं मद्यलसं च पिबामो ।

कौशिकः अपि त्वया ऋक्षमांसं खादितम् (इति पृच्छन् हसति)

ऋक्षः (भयेन कम्पते)

तुप्रकः (हसति) यथा नलबानलमांछं तथा लिच्छमांसं न खादामो तत् छल्वं आल्या खादन्ति ।

कौशिकः हा धिक् ! मिथ्यादोषारोपोऽयं युष्माकम् ! आर्या नरान्नं खादन्ति । ते अन्नं शाकं फलं नालं कन्दं दुग्धं दधि भक्षयन्ति ।

तुप्रकः बालस्त्वम्, न जानासि । तव गुलुनाऽगस्त्येन आतापी बातापी च भच्छितौ ।

ऋक्षः कथामात्रं तत् । स द्रुमोऽगस्त्यः कफवातपित्तनाशकः स्यात् ।

कौशिकः अहो भयङ्करमज्ञानम्

अत्यल्पसत्यं बहुकल्पनामयम्
भवत्युपन्यासकथा जनश्रुतौ ।
आर्या वृथा दस्युजनाद्भयाकुलाः
वृथार्यभीताः खलु दस्यवोऽप्यमी ॥ ८ ॥

तुप्रकः नहि नहि । नाहं भीतो न छम्वलो । वयं आल्यान्मालयिच्छामो ।

कौशिकः यदि न विभेषि तर्हि वार्तालापं किं प्रतिषेधयसि ?

तुप्रकः अस्तु, वात्तालापं कुलुत । यथेच्छं कुलुत ।

कौशिकः धन्यवादाः ।

ऋक्षः यदि सत्यमेव ते मनुष्यान्न खादन्ति तदा नातिक्रूरा दस्यवः । तथापि ते दर्शने भयङ्करस्वरूपाः ।

कौशिकः यदा ते आर्यानकारणं मारयन्त्येव तदा तेषां भक्षणे को भयः विशेषः । यदि ते तीक्ष्णदशनैश्चर्वयन्ति मनुष्यांस्तथापि को लाभो भयेन वा रोदनेन वा । यद्यावां ते मारयन्त्येव तदा कामं तेऽस्मान्भक्षयन्त्वपि का खल्वतो विशेषा हानिः ।

ऋक्षः दस्योर्दीर्घौ प्रखरनखरौ दंशितौ हस्तपादौ
कालः कायः कुटिलविकटो मांसलो ह्रस्वयष्टिः ।
घोणा टीटा विकटदशना व्याकृतिः श्वापदानां
रुक्षा केशा वसनमजिनं किन्नकुर्याद्भयं नः ॥ ९ ॥

कौशिकः दृढोऽसि पुरुषो युवा किमथ वेपथुस्तादृशः
पुनः पुनरपीदृशः किमु निदाघघर्मोद्गमः।
विसर्जय भयं वृथा न वनितासि रोमाञ्चिनी
स्वरे विकृतिरस्ति ते स्खलितगद्गदं भाषितम्॥ १०॥

इतः पश्य।

आरादेषा शुतुद्रुः सरिदमरगणैः सेविता सुप्रपाताः
तस्यास्तीरे समन्ताद्विलसति विततो गोचरः शाद्वलाढ्यः।
नानावर्णैर्न भेदं विदधति विविधास्तत्र गावश्चरन्ति
शृङ्गैः पुच्छैरुपेताः पशुपतिरहितास्ता मनुष्यान्हसन्ति॥ ११॥

ऋक्षः पश्यामि वयस्य पश्यामि—

इमे शैलास्तुङ्गा दुरुदरदरीदुर्गगहना
निवासा दस्यूनां तिमिरसहिता मार्गरहिताः।
ऋचीकेनाप्येते शवरबलपूर्णा न विजिता
न खेलेन प्राप्ता न च खलु दिवोदासविदिताः॥ १२
किमेते शैलाश्च न भयङ्करा शवराधिष्ठिताः ?

तुग्रकः (स्वगतं)

विभेति मां वीक्ष्य वटुः स एकः
परस्तमालोक्य हसत्यभीक्ष्णम्।
भयस्य हास्यस्य च सङ्गमोऽयं
चित्ते मदीयेऽद्भुतवद्विभाति॥ १३॥

कौशिकः सरस्वत्येवारात् सकलवसुधायां सुसलिलैः
कृषिं सिञ्चत्येवं वितरति झषान् पोषति जनान्।
कदाचिल्लोपः स्यात् यदि खलु तदानीं स्थलजुषाम्
मरुस्थल्यां वासो भवतु कठिनो जात्वनशनः॥ १४॥

(परतश्चोच्चैर्विलोक्य) वयस्य पश्य।

शैलस्य सर्वोत्तम एष शृङ्गः शृङ्गारभूतो धरणीधरस्य।
विस्फारितायामिह रक्षितायां सुरक्षिता श्यामलता सुपुष्पा॥ १५॥

ऋक्षः अस्मादुत्तुङ्गशैलात् समतलमखिलं दृश्यते दूरदूरम्
दस्यूनां गृध्रदृष्टिः सकलदलबलं ज्ञातुमीशाऽस्मदीयम्।
छिद्रं पश्यन्ति शीघ्रं त्रिगुणमपि बलं चौर्ययुद्धाय नीत्वा
वीरांश्चार्यान्विहसन्त्यथ विजयकृते कः प्रबन्धो भवेन्नः॥ १६॥

कौशिकः वयस्य !

व्यतीतः खलु कालोऽस्मच्चिन्तायाश्च भयस्य च ।
श्रीवसिष्ठमहर्षेस्तु बुद्ध्यैव जयिनो वयम् ।। १७ ।।

ऋक्षः अथ कथं नामैतत् ?

कौशिकः यतस्तेनाहं भगवतः कृशाश्वस्य सन्निधौ प्रेषितो दिव्यास्त्रप्राप्तौ । तेनैवाहमत्र च प्रेषितो जातिभेदस्य प्रत्यक्षदर्शनाय । एतावति सर्वतोमुखेऽनुभवे नहि चिन्ता-भयावकाशोऽवशिष्यते ।

तत्पश्य सम्प्राप्य चैनं गिरिवर्यसानुं
स्प्रक्ष्याम्यमलेन करेण भानुम् ।
निम्नस्थलस्थान्दहतीव भानु-
स्तुङ्गाचलस्थाय स जीवदाता ।। १८ ।।

ऋक्षः (स्वगतं) धन्योऽयं कौशिकः यत्स्वगुणोत्कर्षं पिधाय श्रीवसिष्ठर्षेरेव बुद्धिं प्रशंसयति । स्वभावः खलु तादृशो महताम् । सम्प्रत्ययं पक्षिणां प्रकृतिमिव निरूपयति ।

प्रोत्तुङ्गश्रृङ्गमभिलक्ष यनरैरगम्यं गृध्राः स्वकीयवसतिं विदधुर्धराध्रे ।
ते दस्युमारितपशून्पुरुषांश्च यज्ञशिष्टानवह्निजनिजं निवहन्ति नीडम् ।। १९ ।।

कौशिकः अस्माकमभ्यासविहीनपादै-
रगम्यमुत्तुङ्गपदं विभाति ।
अभ्यासमात्रेण हि देवलोकं
योगीव दस्युर्द्रवते विशोकम् ।। २० ।।

ऋक्षः वयस्य ! प्रापितावावां सम्प्रति भयङ्करे दस्युदुर्गोत्तमे । यतः

कौपीनमात्रपरिधानलता दधाना माल्ये वराटकवरानपि गुञ्जपुञ्जान् ।
आयान्ति यान्ति च मुहुर्मुहुरत्र दास्यः तुग्रं नतेन शिरसा प्रणमन्ति सर्वाः ।। २१ ।।

कौशिकः वयस्य ! ऋक्ष !

इमे दस्यवः पश्य तुग्रस्य वस्याः समायान्ति सस्योपमश्यामलाङ्गाः ।
ज्वलद्वभ्रुकेशा करालोग्रवेशा समेतानकस्मात्प्रपश्यन्ति चास्मान् ।। २२ ।।

ऋक्षः एवमेतत् । पश्येताश्च

एताः कचेषु कवरीरहिताः शवर्यो
बल्लीभिरावृत्तसुवृत्तनितम्बभागाः ।
श्यामाः सुगौरदशनाः पृथुलाधरौष्ठ्यः
शंसन्ति तुभ्यमभितः सफलप्रयत्नम् ॥ २३ ॥

कीदृशी खल्वासां तृष्णा यदावां नयनचषकैः पिबन्तीव ताः ।

कौशिकः ऋक्ष ! ऋक्ष !

गुरुजनादिकसाध्वसवर्जिते
त्रिगुणधीरसमीरधरे गिरौ ।
दृशि गता शरमोचनलोचना
मनसि ते सुमसायकनायकः ॥ २४ ॥

नो चेत्कथं कथयसि ताः पश्यन्तीति यदि त्वमेतासु न पश्यसि सतृष्णाम् ।

ऋक्षः किं वदसि ? अहं तासु पश्यामि ? कुत्सिता खल्ववद्यास्ता जातिहीनाः । न स्मरसि किम् ?

अहं दुर्दमदायादो मैत्रावारुणिशिष्यकः ।
वरं तृषा मरिष्यामि तासां पास्यामि नोदकम् ॥ २५ ॥

कौशिकः वयस्य !

विचारास्ते श्लाघ्यास्तदपि हृदयं दुर्दमतमम्
महावंशं ध्वंसं नयति चरितं कामभरितम् ।
स वीरो यः कामं परिहरति वामं हृदि गतम्
स शूरो यो नारीनयनशितशूलैर्न निहतः ॥ २६ ॥

ऋक्षः अहो सम्यग् जानाम्येता मायाविन्यः ।

या साम्प्रतं स्वनयनच्छुरिकाभिरावाम्
निघ्नन्ति चेतसि धियं परिलुण्ठयन्ति ।
ता एव नक्तमुभयोर्हि कवोष्णरक्तम्
पास्यन्ति काममिति भीतिवशात्त्रसामि ॥ २७ ॥

कौशिक अलमलमवहित्थया ।

भवेरस्याभक्ष्यस्त्वमिति मम नो भीतिरधुना
त्वमेवास्या भोक्ता भवितुमभिलाषीति तु भयम् ।

परिच्छिन्नं भावं प्रकटयति नेत्रैङ्गितमपि
प्रयत्नैश्चेष्टाभिर्वितथयितुमीशो न पुरुषः ॥ २८ ॥

ऋक्षः न रोहिणीं वालसखीमपि त्वां ब्रुवन्तमित्थं सहते वसिष्ठः ।
इमास्त्वमेवं मयि दृष्टिबद्धाः भ्रान्त्या विमूढः सहसे न धीमान् ॥ २९ ॥

कौशिकः (सलज्जो विषयान्तरं क्षिपति) (स्वगतं) अये सहपांशुक्रीडनीञ्च मेऽयमधिक्षिपति ।
(प्रकाशं) वयस्य ! पश्य

भवति रवेरवरोहणाद्दिनान्तं तिमिरमपावृणुते नभो नितान्तम् ।
प्रविशति पतिरुत्सुको निशान्तं नवयुवतिः स्मयते निरीक्ष्य कान्तम् ॥ ३० ॥

ऋक्षः पश्यामि कौशिक ! बिभेमि च ।

प्रसरति तिमिरं दृशोरुपान्तं प्रविशति भीतिरतीव मानसान्तम् ।
बलिपशुरभिवीक्षते कृतान्तं वधिकजनोऽपि तनोति निग्रहान्तम् ॥ ३१ ॥

कौशिकः तुग्रक ! तुग्रक ! किं निरवधिरावयोर्बन्धः ?

तुग्रकः छणमात्तलं तिष्ठ । लाजा शम्बलो अयमायाति ।

शम्बरः (प्रविश्य) अनयोर्बन्धनं छिन्धि । तुग्रक !

तुग्रकः यदाज्ञापयति देवः । (बन्धनान्यपसारयति)

शम्बरः आर्यौ !

अत्र स्थित्वा न भीतिर्वा न गन्तव्यमनाज्ञया ।
यदि वां निगमे यत्नस्तदाऽवश्यं वधो भवेत् ॥ ३२ ॥

तुग्रक ! गीतं नृत्यं समाज्ञापय । वाद्यं वाद्यताम् ।

शम्बरः (गायन्ति नृत्यन्ति च)

जय जय जय काल ! जय जय मुण्डमाल !
कालकूट कालकण्ठ ! शिरसि कलितचन्द्रखण्ड !
उरसि लसितरुण्डमाल ! भावनाविशाल !
भद्रकालिकाकलत्र ! नग्नलिङ्गगात्रपत्र !
निस्त्रप ! त्रसद्भुजङ्ग ! सङ्गगङ्गभाल ! (जय जय जय महाकाल)

व्यालमाल ! शत्रुशाल ! ज्वलनभाल करकपाल !
हृतकरालकालजाल !   सकललोकपाल ! (जय जय जय काल)

(एवं चक्रके नृत्यन्ति परिभ्रमन्ति च)

शम्बरः (ऋक्षं प्रति)

माल्यं मायूरपिच्छं वा मत्स्यं मांसं मधूलिकाम्
मदिरां मदिराक्षीं वा यद्यदिच्छसि तद् भज ॥ ३४ ॥

अस्मिन् सर्वोत्तमे वासे वस निर्भयमानसः ।
सर्वाभिराभिः प्रत्ताभिः परिचर्यां च कारय ॥ ३५ ॥

शम्बरः (कौशिकं प्रति)

वृथाऽस्मान् बाधतेऽगस्त्यो वृथार्याः शत्रुमानिनः ।
गिरिदुर्गनिवासा हि प्रशान्ताः शबरा वयम् ॥ ३६ ॥

अस्मदाज्ञानुसारेण सन्तोषादत्र वत्स्यथ ।
सर्वे सांसारिका भोगा न भविष्यन्ति दुर्लभाः ॥ ३७ ॥

अगस्त्यो मे ग्रामान्दहति मम वीरान् व्रणयति
प्रजानां पर्युञ्जासनमपि विधातुं प्रयतते ।
स्वयं क्रव्यं भुङ्क्ते ह्यसुरयुगलं भक्षितमपि
मृषा मां क्रव्यादित्यपलपति निन्दां प्रथयति ॥ ३८ ॥

तस्य प्रतिक्रियार्थान्तथा स्वकीयानामपहृतानां दुर्गाणां पुनः प्रत्युद्धरणाय मया युवां गृहीतौ । (ससेनो निर्गच्छति)

कौशिकः यद्यपि सम्प्रति मुक्तबन्धनौ तथापि नावां स्वतन्त्रौ तस्मादतः परं कल्पितनाम्नोः प्रयोगं करिष्यावः ।

अतः परमहं जह्नुर्नाम्ना त्वं च कुशाग्रकः ।
प्रतारणाय दस्यूनां गृह्णीमो मित्रनामनी ॥ ३९ ॥

ऋक्षः बाढम् ! अहं कुशाग्रबुद्धित्वात्कुशाग्रः । त्वं किमर्थं जह्नुः ?

कौशिकः कुशाग्र ! कथं मन्यसे जीवनं वरणीयं मरणं वा ?

ऋक्षः जह्नो !
जीवनं वरणीयम्। मरणे को लाभः। मरणानन्तरं पुनर्जीवनं न स्यात्। पुनर्जन्माप्यस्माकं ऋषिपुत्राणां न स्यात्।

कौशिकः जह्नु !

मृते ध्रुवं जन्म न दस्युबन्धनं चरित्ररक्षा न च जातिसङ्करः।
जीवत्यवश्यं हि न कुभक्ष्यभक्षणं ततः कुबुद्धिस्तत आत्मनो बधः ।। ४० ।।

कुशाग्रः ऋक्ष !

यदि जन्म पुनर्भवेदिहैव तदपि स्यान्मरणे वृथा प्रयासः।
बहुयोनिसु नौ न सङ्गतिः स्यान्न नरत्वं न च विप्रदेहलब्धिः ।। ४१ ।।

चेटी (प्रविश्य) किं नाम ते कथ्यते ?

ऋक्षः कुशाग्र इति

चेटी कुशाग्र ! त्वां राजमहिषी समाज्ञापयति तन्निर्दिष्टे सुष्टुतमे भवने तव शयनीयं सज्जितमिति। तत्रैव सर्वा सुखसामग्री तवातिथ्यहेतवे प्रस्तुतास्ति। त्वं तूर्णमेव तस्मिन्भवने प्रवेशं कुरु इति।

ऋक्षः कीदृशी खलु सुखसामग्री युष्माकम् ? अस्माकं तु सर्वं हि दुःखाय भयाय च।

चेटी मन्दिरं मृदुलमण्डनमञ्चो मृगमदाञ्चित् मयूरकमाल्यम्।
माक्षिकञ्च मधुरं मधुमोदं मत्स्यमांसमदिरामदिराक्ष्यः ।। ४२ ।।

ऋक्षः (स्वगतं) अहो श्रवणानन्दीनि खल्विमानि सर्वाणि चतुर्दशमकाराणि। प्रत्यक्षानुभवस्तु तत्रैव गत्वा करिष्यते। कदाचिदियमेव स्याच्छिरः कर्त्तनकृत्तिका। (प्रकाशं) यद्यहं तत्र न गच्छेयं तदा किं भवेत् ?।

चेटी तदा बद्धो नीयसे। महाकायस्याग्रतस्ते वधो भवेत्। आज्ञाभङ्गस्यात्र बधो दण्डः।

ऋक्षः जह्नो ! वयस्य ! सम्प्रत्येव समापतितोऽयं जीवनमरणयोर्मध्ये कस्यचिदेकस्य वरणावसरः। नास्माभिस्तत्र निर्णयः कृतः।

निःसंशयं मरणमस्ति विलम्बनेन आज्ञानुवृत्तिविधिना मम जीवनं स्यात्।
तत्किं करोमि वद किङ्करतां करोमि तद्भक्ष्यहतुमुत देहमुपाहरामि ।। ४३ ।।

जह्नुः कुशाग्र ! निःसंशयं गच्छ पुनर्मिलनाय। मा भैषीः (गच्छति)

चेटी कुशाग्र इत इतः। (गच्छतः) तमसि मामवलम्बस्व नो चेत्पतिष्यसि।

(ऋक्षस्तथा करोति)

जह्नुः (स्वगतमेकान्ते)

अहो अनुमन्ये ऋक्षातिथ्यकारणम् ।
कुशाग्रः कौशिकभ्रान्त्या नरकं प्रतिपाद्यते ।
नूतनान्नामकरणादहं मुक्तोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४४ ॥

भवति सुखमथासुखं व्यवाये नहि विदितं हृदयं ममाप्यशान्तम् ।
विषयसुखपरं नरे पशुत्वं तदुपरमस्तु नरस्य देवभावः ॥ ४५ ॥

उद्वेजयति नितान्मेकान्ते मां तु रोहिणी प्रणयिनी ।
शिरसीव समारूढः पशुरिव मूढः स्मरो निगूढो मे ॥ ४६ ॥

परिहरति हि मामिहापि निद्रा स्वपिमि च निद्रितवन्मृषापि सद्यः ।
अहरह ह्याकुशाग्रमृक्षं पुनरिह ममास्तु ममापि सा समक्षम् ॥ ४७ ॥

भयङ्करः कथ्यते खलु दुष्टसहवासः । जाने ततोऽपि दुःखतर एकान्तवासः ।
हा !

क्व गतः कुशिकाङ्गणे विलासः क्व च घोषामणिमन्दिरे निवासः ।
जमदग्निसखत्वमाः क्व यातं स्मरति मनो मम रोहिणीं नितान्तम् ॥ ४८ ॥

मनुष्यत्वं हि मां सहनशीलं वितनोति नोचेत् क्रूरतया व्यवहारः स्यात् ।

समस्तानप्येतान्क्षणमहमिमान् दस्युनिवहान्
स्वकीयै दिव्यास्त्रैः कलयितुमलं कालसदनम् ।
तथाप्याभिस्त्रीभिः पुनरपि भवेत् सङ्करभयम्
विवाहादुद्धारः शवरकुलजाभिर्वरतरः ॥ ४९ ॥

अग्निश्च वरुणश्चापि सूर्यो वायुर्दिवस्पतिः ।
यदि पञ्चानुमन्यन्ते परलोकभयं जितम् ॥ ५० ॥

किन्तु सामान्ये लोकव्यवहारेऽस्ति महाकाठिन्यम् । यतः
नागस्त्यो न वसिष्ठो वा नर्चीको नापि सोमकः ।
न खेलोऽप्यनुमन्येत दस्युकन्याविवाहनम् ॥ ५१ ॥

तत्कथं लोकस्य कल्याणं भवेत् ? मामुपदिशतु ।
अहं पृच्छामि वरुणं ऋक्षः पृच्छति वारुणीम् ।
सङ्कटे विषये प्राप्ते समाना दुर्दशाऽवयोः ॥ ५२ ॥

यदि ऋक्षवदेव मामनेष्यत् किमहं तत्र गतोवता चरिष्यम् ।
स्थिरधीः करवै विचार्यकार्यं न च दिक्सूचि समं समीरहार्यम् ॥ ५३ ॥

किन्तु—

परिवर्जिते प्रतनुलोकविचारे
परिवर्त्स्यति स्थितिरपि व्यवहारे।
भुवि सन्त्यजस्तु जनतासु विरोधम्
करवाणि तेन शनकैः परिशोधम् ॥ ५४ ॥

अथ स्वपिमि। शनैः शनैः सा तामसी मम निद्रा निकटमिव समुपसर्पति।

यदा चिन्ता त्यजति मां तदा सा समुपैष्यति।
सपत्नीरहितं कान्तं तूष्णीमायान्ति योषितः ॥ ५५ ॥

वृद्धा धात्री जह्नो! इयमायाता।

जह्नुः अयि का?

धात्री इयं खलु योषिद्वरा शाम्बरी राजकुमारी स्वयमेव भवदातिथ्याय समायाता। अहं तस्या वृद्धा धात्री। इमानि कन्दमूफलानि

आर्यजास्मि वतशम्वराश्रिता दीर्घकालमुषितास्मि दस्युषु।
उग्रिकेति कथितेयमग्रसः शम्बरस्य परिलालितात्मजा ॥ ५६ ॥
पालिता स्वपयसा मयैव सा शिक्षिता च निजमार्यभाषितम्।
त्वां दिदृक्षति तु सा वरार्थिनी प्रार्थिनी च भवदार्यसंस्कृतेः ॥ ५७ ॥

जह्नुः सुनीलमणिमेचके शिखरिदन्तिकेशान्तिके
न चार्यं कुलजं भज त्वमिह कर्हिचिद्दस्युजे।
अहं बलिपशुर्निजान्श्वसिमि जीवनस्य क्षणान्
त्यजार्यजनमार्त्तिदं भजनिजोचितं दस्युजम् ॥ ५८ ॥

उग्रा मत्पिता तु भवते प्रदत्तवान् पूर्णरूपमभयं चिरायुषे।
किम्पुनर्बलिपशुत्वशङ्कया त्वं नु सम्भ्रमसि मेकरगृहे ॥ ५९ ॥

धात्री महिलानां हि निवन्धं नहि जानासि बुद्धिमन्।
यदि त्वं तां न गृह्णासि सा तु प्राणान्विमोक्ष्यति ॥ ६० ॥

जह्नुः न दस्युकन्यां विवहन्ति भार्यामार्याः समर्यादमुदारभावाः।
त्वां त्याजयिष्यन्ति मदीयसङ्गाद्दुःखं ततस्तेऽपि ममापि भावि ॥ ६१ ॥

धात्री नृपसूनुरसीति कथ्यते नृपतीनां नृपजाः स्वयंवराः।
यदि नोद्वहते स्त्रिया वृतो न स लोके पुरुषेषु गण्यते ॥ ६२ ॥

जह्नुः   नहि मर्यादमार्याणामुल्लङ्घयितुमुत्सहे ।
न कर्त्तव्यं चिकीर्षामि प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ६३ ॥

उग्रा   कर्त्तव्य एव भवता वलया विवाहः कर्त्तव्य एव भवता परिरक्षणं मे ।
आर्या न चेदहमहो कुरु मामिहार्यां भार्यामुरीकुरु च मां सुधियोपकार्याम् ॥ ६४ ॥

कौशिको जह्नुः चक्षुर्निमील्य शृणवानि सुसंस्कृतानि श्रद्धास्पदानि शुचितर्कपरिष्कृतानि ।
एतानि काम्यवचनानि पिकस्वनीनां हर्त्तुं क्षमाणि हृदयान्यपि सन्मुनीनाम् ॥ ६५ ॥

धात्री   (अपवार्य) अहो कामस्य विजयडिण्डिमध्वनिरयम् । यन्नेत्रे निमील्य सानन्दमयं रसिकमोदं मोदते ।

यावत्कामवशं न याति हृदयं तावत्कुरूपास्त्रियो
देहास्त्वप्सरसां न भान्ति घृणिता भोगाश्च रोगोपमाः ।
कामश्चेतसि सन्निपत्य विकृतिं तां चक्षुषोराचखे
येनासेचनकत्वमेति मलिनं हृद्यत्वमेत्यप्रियम् ॥ ६६ ॥

जह्नुः   पालितास्यार्यपयसा दीक्षितास्यार्यभाषणे ।
श्रद्धा चास्ति तवार्यत्वे तद्विचार्यं मया पुनः ॥ ६७ ॥

धात्री   इयमार्याभ्यश्च श्रेष्ठतरा गुणेषु न हि पीतमनार्यदुग्धं न चानार्यभाषणं जात्वाचरितम् । तथापि शाम्वरी शम्वरजैव । तद्विचारय—

दधाना धीरत्वं विषयरसतृष्णाविरहिता
स्वयं प्राप्तं कामं नहि परिहरन्त्यार्यपुरुषाः ।
न मे धर्मे वाधा न च परिजनाधीरणभयम्
प्रगल्भत्वं भूयो भवति पुरुषेऽभ्यासवशतः ॥ ६८ ॥

जह्नुः   सहसा न करोमि साहसं व्यवहारं तु विचारये चिरम् ।
वहुजिह्व जनाच्च मे भयं प्रतिघातः कुलजातिधर्मयोः ॥ ६९ ॥

उग्रा   न्यस्ता मया बलवती त्वयि जीविताशा
त्वद्दत्तमेव समयं प्रतिपालयिष्ये ।
आख्या ह्युपायमथ येन भवेयमार्या
त्वत्प्रीतये वद तपः करवाणि कीदृक् ॥ ७० ॥

जह्नुः   प्रातः स्नानं कुरु च नियतं दस्युदुर्गन्धहारि
मध्याह्नेऽपि स्वतनुमलहृत् स्नानमभ्यञ्जनं च ।

काले काले रुचिरवपुषे स्नाहि मृद्गोमयाद्यै-
रेवं भूयात्तव च सुचिराद् वर्षपूर्त्तौ विशुद्धिः ॥ ७१ ॥

उग्रा　एवं करिष्यामि तवाज्ञयाहं कुरु त्वमप्यत्र दयार्द्रभावम् ।
त्रिरात्रमेवात्रमुताष्टरात्रं न जीवनं स्यान्मम भासमात्रम् ॥ ७२ ॥

धात्री　न जाति परिवर्तनं भवति दस्युजानां त्रिधा
शरीरपरिमार्जनान्नियमतः परं हायनात् ।
करग्रहणमात्रतो झटिति दस्युता नश्यतात्
अयो व्रजति हेमतामपि सकृन्मणिस्पर्शतः ॥ ७३ ॥

उग्रा　आशा तु दुःखदा किन्तु निराशा प्राणहारिका
आशाजनितदुःखं हि सुखस्यैव सहोदरम् ॥ ७४ ॥

धात्री　भूमेर्निजाक्षे भ्रमणादार्याणां वर्षमिष्यते ।
तद्भवेदेकरात्रेणाथवा द्वादशमासकैः ॥ ७५ ॥

(गच्छतः)

कौशिकः　(एकाकी स्वगतं)

शृङ्गाराख्यो रसो यः शुचिरपि रुचिरः प्राकृतो दिव्यरूपः
शृङ्गाराभासमात्रः क्वचिदपि पशुवत्सेव्यते ग्राम्यधर्मे ।
कामः कस्मादकस्मात्समुदयमयतां प्राणनाशस्य भीत्यां
ऋक्षस्तस्मात्स्वभीतिं शमयति नितरां वारुणीसेवनेन ॥ ७६ ॥

सा दस्युकन्यापि सुशीलधन्या विचारधारास्वपि सास्त्यनन्या ।
सदार्यभावं प्रतियाचमाना सत्कार्यमेवारभते व्रताद्यैः ॥ ७७ ॥

स वरार्थिनी प्रथममार्यत्वमेवेच्छति स्म । तदा केनाप्यार्यकुमारेण सह विवाहयोग्यतां कामयति स्म । तत्र ममायं दोषो यन्मया स्वकीयात्मनो योग्यता दर्शिता । तया तु सम्प्रति तर्के न्यायतोऽहं निगृहीतः ।

हिलति चुल्लति सा मदविह्वला तदिह दस्युजनेषु न दुष्यते ।
तदपि यद्यपि सा वरकन्यका जयति सार्यवधूर्विनये नये ॥ ७८ ॥

प्रथममृक्षकलक्षतयावलामदनतः खलु सा पशुतां गता ।
मम तु सा खलु भोजनहारिका तदपि मां सह धात्रिकयागमत् ॥ ७९ ॥

स्याच्छम्बरोऽप्यनवरो यदि शिष्टतायां सर्वस्य रूपमिह यौवनकालनिष्ठम् ।
शालावृकाहृदयतस्तु भवन्ति योषा द्दिव्याङ्गनाऽपि हि पुरूरवसं व्यमुञ्चत् ॥ ८० ॥

(विचार्य)

कृष्णां वेणीं दधाना ह्यसुरपतिसुता कामिनी श्यामकृष्णा
कृष्णा धूम्राकुटीयं वृहदजिनमयी चर्मशय्या च कृष्णा ।
कृष्णा दीपा वसायाल्टिमटिमदहनाकज्जलस्तोमकृष्णाः
रात्रि कृष्णां च तादृक्नयनमिलनतः कामतृष्णा च कृष्णा ॥ ८१ ॥

तद्यदि प्रभविष्यामि स्वप्रभावादेव दस्युभ्यः स्वच्छतां कारयिष्यामि ।
स्नानाद्धौतपरीधानात् समयाचारशोधनात्
दस्यवोऽप्यार्यतां यान्तु रूपं च परिवत्स्यते ॥ ८२ ॥

दस्यूनां दस्युतां हित्वा वितनोमीह चार्यताम् ।
स्वयमाचार्यतां कृत्वा कृणोम्यार्यमिदं जगत् ॥ ८३ ॥

(नेपथ्ये शङ्खध्वनिः)

शङ्खध्वनिः समभवत् प्रचुरप्रघोषो घण्टारवेण सहितस्त्विह भैरवस्य ।
रात्रिर्गता भज नरे शयनीयमाशु प्रातस्तनं शयनमुन्नतयेऽसुराणाम् ॥ ८४ ॥

कौशिकः अहोऽहमपि चिन्ताव्याकुलो रात्रावजागरिषंप्रातर्मां निद्रावघूर्णयतीव तथापि नासुरीनिद्रामहं भजानि । अहोऽयं कुशाग्रो निद्रया मदिरया च घूर्णमानो विषमक्रमक्षेपः स्खलद्गतिः समुपायाति ।

ऋक्षः (प्रविश्य) (सहर्षम्)

दिष्ट्या जीवसि कौशिक त्वमहमप्येषोऽस्मि जीवन्निव
किम्ब्रूयां निशि यादृशी गतिरभूद् घोषाजनालिङ्गनैः ।
सर्वां रात्रिमिमां निपीय बहुधो सोमात्मिकां वारुणीम्
यद्यत्मर्कंकृतं तदेव न कृतं केनापि भूजन्मिना ॥ ८५ ॥

कौशिकः वयस्य !

दिष्ट्याहं परिरक्षितोऽस्मि पतनाद्दैवेन हृद्वर्तिना
किन्त्वस्मात्प्रथमान्ममाप्यनुभवाज्जातो विचारेऽन्तरः ।

त्वं ताभी रमणीभिरेव रमणादार्योऽप्यनार्यीकृतः
मद्धेतोरूषसि प्रमार्जतितनूं सार्यत्वमालिङ्गितुम् ॥ ८६ ॥

पश्य !

इहाद्यरामाः खलु संघशस्ताः प्रातः समुत्थाय जलप्रपाते ।
स्नानं चिकीर्षन्ति ममैव तुष्ट्यैः पूर्णोऽभवन्मे प्रथमो विनोदः ॥ ८७ ॥

इयं वृद्धा धात्री प्रथमकमिहार्यत्वमनयत्
पुनर्धात्री भूत्वाऽधयदपि च तामार्यपयसा ।
ततः सार्या भाषा व्यवहृतिविधिं शिक्षितवती
कियच्छ्रद्धां चार्य्येष्वपि कृतवती दस्युहृदये ॥ ८८ ॥

ऋक्षः का हानिर्यदि स्नानमात्रोपायेन भरतानां महिषीत्वं प्राप्येत ? जातिपरिवृत्तौ ? अथ वयस्य ! किमर्थमेतानि कन्दमूलफलादीनि ?

कौशिकः मम भोजनहेतवेऽत्र नीतं न मया त्वद्विरहेण भुक्तमेतत् ।
अधुना कृतनित्यकर्मजातौ सहभोजं विदधाव तावदेहि ॥ ८९ ॥

ऋक्षः (सविनोदं) मया पुनरनुमितं कदाचित्स्पर्शेन तासां फलान्यपि दूष्यन्ते ।

कौशिकः यदुच्छिष्टमभोज्यञ्च तन्मन्त्रैर्यातु भोज्यताम् ।
मन्त्रैरानीयतां सर्वमपवित्रं पवित्रताम् ॥ ९० ॥

ऋक्षः एवमेव कदाचित् कालान्तरेण खुरणसी च सुनसी भूयात् ।

कौशिकः कुशाग्र !

मैवं कदाचिन्मन्त्राणामवहेलनं कर्त्तुमर्हसि
नीरोगत्वमसाध्यरोगगलितो नीयेत दिव्यौषधैः ।
मन्त्रैरार्यहलं निनीषति मनोदस्यूनिमानार्यताम्
संस्काराय च मन्त्रिकस्य नु चमत्कारोऽयमाश्चर्यकः ॥ ९१ ॥

ऋक्षः वस्तुतो मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावोऽप्यचिन्त्यो न परिमीयते । तदहमपि प्रातः सन्ध्यामुपास्याहोरात्रकृतं पापं दहामि । इत्थमहं प्रायश्चित्तं करोमि ।

कौशिकः प्रायश्चित्तं गजस्नानं समानं न भवेद्यदि ।
तदा हि धर्ममर्यादा प्रायश्चित्तेन धार्यते ॥ ९२ ॥

(नेपथ्ये) हा ! हा !

त्रायतां त्रायतां बालः पतितोऽयं शिलोच्चयात् ।
हा ! हा ! हन्तोग्रकालस्य कोऽपराधः कृतो भवेत् ?

कौशिकः भो भोः कस्य बालकस्य पतनं जातम् ?

(नेपथ्ये) अहो शम्बरमहाराजस्य पौत्रः उदुम्बरो गोत्राच्छिलोच्चयात्पतितः सम्प्रति जीवति न वेति सन्देहः । स उग्रकालाग्रतः स्थापितो भैरवोऽस्य रक्षोपायं करोति सर्वाप्यस्य जीविताशा तस्मिन्नेवावलम्बते । तच्छिरसि वानरास्थि भ्राम्यते ऋक्षकेशचूर्णेन भस्मना परिमार्ज्यते । तच्च फलं न यच्छति ।

ऋक्षः (अपवार्य) प्राप्तं खलु शम्बरेण फलमस्मद्बन्धनस्य ।

कौशिकः शान्तं । नहि दुःखितेषु सहानुभूतिभावस्त्यज्यतेऽस्माभिरार्यैः ।
(उच्चैः) भो ! भो ! अस्त्युपायः कोऽप्यस्माभिः करणीयः ?
(नेपथ्ये) अहो उग्रकालेन परिचणार्हो न मन्यते । भैरवेण परित्यक्तोऽसाध्य इति ।

कौशिकः तथापि मां चैनं दर्शयात्र कदाचिदुपायः सम्भवेत् (भैरवस्तमानयति) (कौशिकोऽपामार्जनं करोति जलार्द्रं वस्त्रं शिरसि तस्य निधाय मन्त्रं जपति)

अश्विनौ रक्षतां बालं तनूं कुरुतमक्षतां यद्येष जीविताद्धीनो मृतं जीवयतं पुनः ।
बालकं प्रमार्ष्टि बालक उपजीवति रोदिति च क्रीडति च ॥

लोकाः (सहर्षं) जयतु जयतु कौशिकः (पुष्पवृष्टिः) बालकं चलन्तं नयन्ति ।

(सर्वे निष्क्रान्ता.)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थोऽङ्कः

वृद्धा धात्री मृद्गोमयैरपि सुगन्धितमूलकल्कैः
हारिद्रसर्षपयुताढकिपिष्टकाभिः ।
लेपान्वितं त्रिषवणं स्नपनं विधाय
लब्धोऽनया नृपजयापि सुगौरवर्णः ॥ १ ॥

अथवा

देवः स्वयं हि मदनो हृदि सन्निविष्टः
स्वेदाम्बुभिः स्नपयतीह दिवानिशं च ।
पाण्डुत्वमेतदतुलं ललनाङ्गकानाम्
वैवर्ण्यहेतुकमुतापि रुजाकृतं स्यात् ॥ २ ॥

किन्तु यथा तथा वा स्यादाशानिबन्धेनानया नियमैर्वर्षमात्रव्यतीतम् । अथाद्यत्वे स्वाभाविक इवास्याः स्वप्नानन्तरः फलाहारः । अये ! कुशाग्रः !

कुशाग्रः (प्रविश्य) अपि कुशलं राजधात्र्याः ?

वृद्धा धात्री नास्ति खलु कुशलं यतः सम्प्रति तु—

नित्यं रणोद्यमकरो भगवानगस्त्यो
राजानमित्थमतुलं कुपितं करोति ।
कोपाग्निमस्य धमतीव नराधमोऽयं
वाञ्छन् बलिं युवकयोर्युवयोः सकालः ॥ ३ ॥

कुशाग्रः मृतं बालं समुज्जीव्य कौशिको लोकसम्मतः ।
लोकानामुपकाराय नित्यमावां समुद्यतौ ॥ ४ ॥

भीमोग्रकालमपि जह्नुरयं जिगाय
कालस्य कस्य गणना रणनायकस्य ।
यः केवलं बलिपशुं परिवध्य हन्ति
जीवप्रदानमहिमा न हि मानितोऽस्य ॥ ५ ॥

वृद्धा धात्री किम्भो ! जह्नुर्जीवप्रदानमपि जानाति ! मया पुनर्ज्ञातमयं शक्तो मृतानामेवोज्जीवने ननु दुःखार्तानां मरणोन्मुखीनां जीवप्रदाने ।

कुशाग्रः भामिनि !

एष त्वदीयहृदि दस्युजनप्रसङ्गात्
अप्यस्ति गाधितनयेऽपि कृतघ्नभावः ।
विश्वस्य मित्रमिति केवलमेष लोके
मित्रो द्वितीय इव भास्यति पुण्यकीर्त्या ॥ ६ ॥

अयमसौ स्वयमेवायाति तवोपकण्ठम् ॥

वृद्धा धात्री विश्वं तु वो लघुतमं धवलायमानं आर्यत्वमात्रपरिसीमितलोकमानम् ।
मित्रःस्वकीयमहसा सकलं प्रकाश्य मन्दीकरोति नयनानि निशाटनानाम् ॥ ७ ॥

जह्नुः (प्रविश्य) अहो ! अपि नाम को हेतुरस्य महतोऽप्युपालम्भस्य ।

वृद्धा धात्री शृणु तावत् ।

निकटे ह्यपरे कुटीरभागे मरणासन्नमुखी सखी ममास्ते ।
नवकीर्तिमलौकिकीं निशम्य त्वयि विश्वासपरा प्रतीक्षते त्वाम् ॥ ८ ॥

नियमेन समन्विता प्रभाते सवने मध्यदिने दिनावसाने ।
सकलौषधिकल्कलिप्तगात्रा तव सेवार्थमियं तनूमधावत् ॥ ९ ॥

सततज्वरतापवेदनायाः फलतः पाण्डुरवर्णदेहयष्टिः ।
अपि दस्युकुलस्य कृष्णकान्त्या तव गौरत्वमपि क्षमा विनेतुम् ॥ १० ॥

यदि विश्वमिदं विशालकायं यदि तस्मिन्पुरुषाश्च योषितश्च ।
अवनं यदि मारणाद्वरीयस्तदवश्यं त्वमेव तपस्विनीं ताम् ॥ ११ ॥

जह्नुः (सदयं)

झटिति मां नय खिन्नसखीं पुरो यदि रुजाकुलितामरणोन्मुखी ।
यदि दयां कुरुते मयि देवता तदवताद्दवतापितयोषितम् ॥ १२ ॥

वृद्धा मांसमप्यथ विहाय हायनं कष्टलब्धफलमूलभोजना ।
आन्तरेण तपसा प्रकम्पिता नाम्बरीषमपि वष्टि शाम्बरी ॥ १३ ॥

ऋक्षः आर्येषु व्यभिचारो यः सदस्युषु कुतूहलम् ।
परम्परात्र पापानामेषा जारभरावरा ॥ १४ ॥

अथवा

भूतले स्वर्गलोकोऽयं मादृशानां कृते यतः ।
साक्षान्नरकवासोऽत्र कौशिकस्य कृते तु सः ॥ १५ ॥

(निष्क्रान्तः)

स्थानं उग्रानिवासकुटीरः ।। समयो रात्रिः ।।

धात्री सुमुहूर्त्तमस्तु भवते भिषक्पते स्वपदा पवित्रय कुटीरिकामिमाम् ।
भवदीयमादरमहो कियन्मितं कुरुताच्चिराय शयनीयसेवनी ।। १६ ।।

उग्रा शयनीयात्समुत्थातुमिच्छामि नियताम्यहम् ।
क्षमाप्रार्थनमात्रेण परिपूर्णोऽस्ति नादरः ।। १७ ।।

कौशिकः वृद्धे ! कीदृशीनां तव सख्याः सरोगवेदना ?

धात्री इमामेव तावत्परिपृच्छ । सर्वञ्चास्याः शरीरं सम्यक्परीक्षस्व । अहं ताव-
दौषधिक्वथनाय धनञ्जयसमिन्धनाय समिधः सञ्चिनोमि जलञ्चाहरामि ।
(इति गच्छति)

कौशिकः अयि सुन्दरि शंस मंक्षु मे तव रोगस्य किमस्ति कारणम् ।

उग्रा नियमाद्बहुधाऽङ्गधावने बहुधा मे जनिताङ्गवेदना ।। १८ ।।

कौशिकः स्नानं मा कुरु कोमलाङ्गि सुतनूर्याविज्ज्वरेणार्वते ।

उग्रा स्वेदस्नानमनेकधा भवति मे रोमोद्गमो वेपथुः ।। १९ ।।

कौशिकः स्वेदानन्तरमस्ति किं तव वपुः शान्ता क्षणं विज्वरा ?
तज्जानीहि भिषग्वर त्वमिह मे गात्रे परामर्शतः ।। २० ।।

(कौशिकः गात्रं शनैः शनैः सम्यक् परामृश्य)

अतनुज्वरवेदना तनौ ते ह्युपवासेन तु यातु यातुधानि ।
मम नाङ्गसहोऽस्ति लङ्घनार्थं रसमेवार्पय मे रसायनञ्च ।। २१ ।।

कौशिकः अस्ति दस्युयुवकोऽत्र कोप्यहो यस्तवार्थममृतं समानयेत् ?

उग्रा तद्धि वाचि तव वैद्य विद्यते कर्णगं तदमृतं पिपर्त्ति माम् ।। २२ ।।

कौशिकः वातायनोपान्त्यमुपैहि शान्त्यै तवायुषे वाति वसन्तवायुः ।

उग्रा वार्ता हि ते मे विदधातु वार्ता आर्ता हि वाते भृशमुद्विजन्ते ।। २३ ।।

कौशिकः सुधामयाः सन्ति कराः सुधांशोः सन्तापशान्त्यै तव सन्तु कान्ते ।

उग्रा पीयूषपूर्णं तव चारुचन्द्रमुखं पिबेन्मे नयनं चकोरः ।। २४ ।।

कौशिकः अमृतरश्मिरसौ शशवारकः तव चिराय भवेदसुधारकः ।
उग्रा विषरसं मयि वर्षति चन्द्रमा विशिखवह्निशिता निशि तारकाः ॥ २५ ॥

कौशिकः व्यजनवीजनतः सुखमस्तु ते वद सखीं मृदुवीजनहेतवे ।
उग्रा जवनवीजवदुन्नतयौवने स्वजनवद्विजने मयि वीजय ॥ २६ ॥

कौशिकः अयि वृषस्पति शाम्बरि किं वरं न वरयस्यसुरं हि पतिं वरे ।
उग्रा त्वमिव मास्त्वपरपुरुषार्थभस्त्वमिह मामधुनाप्युररीकुरु ॥ २७ ॥

कौशिकः आर्येषु नेदृशमपत्रपतां विभर्त्ति योषिज्जनो न पुरुषा व्यभिचारवन्तः ।
उग्रा सन्त्येव केचन कुशाग्रसमा युवानस्त्वनासिचेदिति ममास्ति हि भाग्यदोषः ॥ २८ ॥

कौशिकः वारुणीवशगतो हि कुशाग्रो यच्चकार तदहं न करोमि ।
उग्रा नास्ति चेत्त्वयि कृपाऽत्र कृपाणाच्छिन्धि निर्दयमिदं हृदयं मे ॥ २९ ॥

कौशिकः किन्त्वहं वरुणदेवमपृष्ट्वा कामतो न महिलासु हिलामि ।
उग्रा त्वं यमं कुरु यमः शरगं मे त्वामसौ हि वरुणोऽवरुणद्धि ॥ ३० ॥

कौशिकः स्वप्नेऽप्यहं स्थिरधिया वरुणात्मजाया
स्पर्शं चकार न पुराधरपल्लवेन ।
उग्रा स्वप्ने तथाऽपि च दयां मयि सन्निधत्से
जाग्रत्तथा न किमु निष्करुणत्त्वमेषि ? ३१ ॥

कौशिकः निद्रासखी गुणकरी तव सेविकासु स्वप्ने त्वलभ्यविषयामपि लम्भयस्व ।
उग्रा रात्रिन्दिवं हि शयनीयकटेशयानां निद्रा न मां क्षणमुपैति सुलज्जितेव ॥ ३२ ॥

कौशिकः त्वं न मुञ्चसि मां स्वप्ने त्वां न मुञ्चामि जागरे ।
मन्यामहे कृतार्थत्वं दर्शने स्पर्शनं विना ॥ ३३ ॥
उग्रा जीवन्ति चेद्वरारोहा वरारोहविवर्जिता ।
तृप्ता दर्शनमात्रेण मनुजा मीनजास्म्यहम् ॥ ३४ ॥

कौशिकः शालीनशीलतार्याणां सङ्कोचो नम्रता धृतिः ।
प्रीतिप्रदास्ति मे नैषा दस्युस्त्रीणामलज्जता ॥ ३५ ॥

उग्रा विजने स्वजनं प्राप्य लज्जा चेज्जायतेऽनघ ।
आर्यनार्यस्तदा वीराञ्जनयन्ति कथं नरान् ॥ ३६ ॥

कौशिकः स्वस्मिन्कर्तृत्वजातं निखिलफलचये भोक्तृताप्यार्यभर्त्रे
कर्तव्यानां क्रियाणां यमनियमयुताः सज्जिताः साधनेषु ।
आत्मानं सर्वथार्याः पतिमनसि महामानसे मज्जयन्ति
निःस्वार्थाः शान्तिहेतोः सकलमपि समुत्सृज्य धर्माधिकारम् ॥ ३७ ॥

उग्रा पतिस्त्वमेवासि विपत्तिरप्यसि
गदस्त्वमेवास्यगदस्त्वमेव हि ।
सुखं त्वमेवास्यसुखं त्वमेव हि
धृतिस्त्वमेवास्य धृतिस्त्वमेव हि ॥ ३८ ॥

कौशिकः ममावस्थां किञ्चिन्मनसि विचारय त्वम् ।

सत्यगस्त्ये वशिष्टे च दिवोदासेऽप्यथर्वणे ।
सति खेले सोमके च न त्वां स्वीकर्त्तुमुत्सहे ॥ ३९ ॥

उग्रा मृतं जीवयसीत्येव यशस्ते विलयं गतम् ।
नारीजनं मारयसीत्येवं तेऽस्त्वयशो ध्रुवम् ॥ ४० ॥

धात्री (प्रविश्य) भर्तृदारिके ! लब्धा काचिदप्यौषधिः वैद्यादेतावत्कालपर्यन्तम् ?

उग्रा नहि नहि । कपिकायकर्मभिः केवलं वाचैव रोगज्ञानं सूच्यते ।

(नेपथ्ये)

वज्रनिर्घोषभयङ्कराःशब्दाः श्रूयन्ते । मारय मारय पोथयेति ।

कौशिकः हं हो कोऽयमीदृशः शब्दहेतुः ?

(नेपथ्ये)

आर्यपञ्चकसेनाभिरगस्त्यः शाम्बरं बलम् ।
समाहूयत युद्धार्थं तद्दुर्गाञ्जयति क्रमात् ॥ ४१ ॥

कौशिकः आवयोर्बन्धमोक्षार्थं कौशिकः प्रयतते । श्लाघ्योऽयं प्रयत्नः । किन्तु लोककल्याणाय दस्युभिः सह मिलनमेव श्रेयस्तरम् । पूर्णतया मिश्रणं मैत्रमार्यत्वसम्पादनञ्च श्रेयसे स्यात् येनोभयजात्योः समानो मन्त्रः समितिः समानी स्यात् । समानानि हृदयानि च स्युः ।

तुग्रकः (प्रविश्य) जह्नो जह्नो लिच्छकौछिकयोर्मुक्तैर्विजितदुर्गेषु तु द्वादश्चैव न मुञ्चत्यगच्छः । तस्माद्यावद्युद्धं भवति तावत्पुनर्युवयोर्बन्धः ।

उग्रा तात तुग्रक ! यावन्नाहं स्वस्था वा मृता वा तावयदयं जनो ममान्तिके निवत्स्यति । स एव मे जीवनोपायं करिष्यति ।

तुग्रकः तथास्तु ।

कौशिकः सर्वोपायैरपि न मृदुलं बन्धनं छिद्यते मे
दिव्यास्त्राणामपि न वसरो नापि जृम्भास्त्रकाणाम् ।
यान्नं त्यक्त्वा जलमपि मम प्रेमभिक्षां चरन्ती
प्राणत्यागं न गणयति तां नाप्यहं त्यक्तुमीशे ॥ ४२ ॥

उग्रा कारण्येन पदन्यासं कृतं हि तव चेतसि निरन्ना निर्जलाप्यस्माज्जीविष्यमि तवाशया ।
(भृशं रुदती साश्रुविन्दून् प्रमार्ष्टि) ।

कौशिकः (स्वगतं)

न रूपमभिलष्यते न च सुनासिका नेक्षणम्
न जातु नरकद्वयं न सुरलोककामोदयः ।
इयं कठिनता गुरुर्न भरताश्च तां दस्युजाम्
स्वराजमहिषीपदं कथमपि प्रदद्युर्हठात् ॥ ४३ ॥

(प्रकाशं)

गुणदोषविचारपूर्वकं परिणामं चरितस्य चिन्तये ।
क्षणमात्रसुखस्य हेतवे न च कार्यं चिरदुःखजीवनम् ॥ ४४ ॥

उग्रा मया त्याज्यस्तातस्त्वयि निरतयाम्वारहितया
सुहृत्सख्यस्त्याज्या वसनमशनं त्याज्यमपि च ।
यदार्याः कुर्वन्त्यस्तदहमपि कर्त्तुं व्यवसिता
स्वधात्र्या ह्यार्यायास्तव च वचनं पालितवती ॥ ४५ ॥

पुनश्चेदानीं दयनीयैव खलु दशा मे दृश्यते । यतः
न कांक्षे राजतिलकं न कांक्षे महिषीपदम् ।
कौशिकस्य पदं कांक्षे ततः स्वर्गपदं ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
राजमहिषी खलु यास्तु सास्तु । नाहं सपत्नीभ्यश्च भीतास्मि ।

कौशिकः किन्त्वेकपत्नीव्रतीऽस्म्यहम् । नहि युगपत्पत्नीद्वयं विवाहयिष्ये ।

उग्रा कृते त्रेधा स्नाने प्रतिदिनमपां मज्जनयुते ।
तटस्था दस्युत्वं मम न खलु नेनेक्ति तटिनी ।
समस्तं चार्यत्वं यदपि कुलजं जन्म नियतम्
मम स्पर्शाद् गन्धात्तदपि द्रवते नैति पुरतः ॥ ४७ ॥

कौशिकः पयःपानात् सङ्गादशनशयनाभ्यां प्रवचनात्
प्रभावाच्छिक्षायास्त्वमसि कियदार्या प्रथमतः ।
व्रतैरप्याचारैर्बहुतिथयमैः संस्कृतिरसौ
दृढा जाता मन्त्रैस्तव तनुरियं सम्प्रति शुचिः ॥ ४८ ॥

उग्रा तथापि नाहं भवतोऽभीप्सितास्मि यतः—
सूर्यप्रकाशविदिता शितिता तनूनाम्
चन्द्रोन्नतिर्वदति मे वदनोनकान्तिम् ।
एवं दिवाकरनिशाकरयोर्महत्वान्
मामेव वर्णरसिकोरसि को न रक्षेत् ॥ ४९ ॥

कौशिकः (स्वगतं) किं करणीयमत्र ? यदि दस्युजामङ्गीकरवाणि तदा गुरवश्च प्रजाश्च तन्नानुमोदिष्यन्ते । विशेषतो राजमहिषीपदं न सम्भवति । दस्युजायाः शम्बर्याः । ततोऽहं राज्यं त्यक्ष्यामि तामेव गृहीष्यामि । किन्तु । अप्यस्ति मेऽधिकारः पूर्णः स्वकीये शरीरे ? (विचारयति)

कुशिकोऽभ्यलषद् घोषा जीजनद्राज्यहेतवे ।
अगस्त्योऽशिक्षयद्राज्यरक्षार्थं चैकलोस्म्यहम् ॥ ५० ॥

प्रजानामधिकारोऽस्मिञ्शरीरे मम भामिनि ।
गुरुमातृप्रजानाञ्च ग्राह्या नाद्यासि दस्युजे ॥ ५१ ॥

उग्रा प्रजाः सपत्न्यो वसुधा सपत्नी भवन्ति नित्यं नृपकामिनीनाम् ।
कञ्चिद् हृदिस्थामपि नाभ्यसूये मित्रोऽपि नैकां नलिनीं विभर्त्ति ॥ ५२ ॥

कौशिकः एकैव जाया महिषीपदस्था भवेन्नृपाणां महिलाबहुत्वे ।
अनन्यमार्योऽभि विवाहितायास्तवापमानं नु कथं सहिष्ये ॥ ५३ ॥

उग्रा अहो नैराश्यम्, नैराश्यम्, नैराश्यम् ।
न पिता जननी न बान्धवा मे न च देवा न च देवा न भवान् सहायकर्त्ता ।
अत एव हतं त्यजामि देहं भवते स्वस्ति भवेन्नमो गुरुभ्यः ॥ ५४ ॥
इति मूर्छति ॥

कौशिकः उग्रे उग्रे ! दस्युराजकुमारि ! नहि प्राणाँस्त्यक्तुमर्हसि । त्याज्यः खलु विषयाभिलाषः (जलं सिञ्चति) नेत्रे उद्घाट्य सा ब्रवीति शनैः ।

उग्रा संयमो वयसि नूतने कृतौ दीर्घजीवनसुखाय जायते ।
अद्य यद्यसव एव यान्ति मे संयमस्य तु फलं कदा यदा ॥ ५५ ॥

संप्रति सर्वतो घोरान्धकारमेवोपसर्पन्तं पश्यामि। तमःप्रलयकालस्येव परिभ्रमतीव सर्वा भूमिः। प्रयान्तीव प्राणाः। हा जह नो मां जहि नो जहीहि नो जहनो (इति मूर्च्छति)

वृद्धा धात्री उग्रे ! उग्रे ! ! उग्रे ! ! ! हा जलं पिब ! हा पयः पिब हा ! मूर्च्छा ! ! (विलपति) कुसुमसुकुमारहृदये ! घोरापमानेन हतासि। हा किं फलमभूत्ते वार्षिकं तपः। हा जाते ! जातिदोषेण ते सर्वाः खलुः संस्कारगुणा निगीर्णाः। हा वत्से ! अयं वैद्योऽपि महावैद्यः सम्पन्नः। विश्वामित्रो तवार्थं विश्वामित्रः शत्रुभूतः हा। (रोदिति)

धात्री तुग्र ! तुग्रक ! समाहूय सर्वान् अस्याः पित्रादीन् भैरवादींश्च यद्यद्याप्युपायः स्यात्। हा हा अतीता खल्वस्या जीविताशा

न ह्योदनात्पुनर्धान्यं न मृतौज्जीवनं पुनः।
भविष्यं भूततां याति न भूतं तु भविष्यताम् ॥ ५६ ॥

हा वत्से !

ममैवाङ्के लीना रुदितमकरोर्जन्म समये
ममैवाङ्के भूयो लघु विरलदन्तैः स्मितवती।
ममैवाङ्के भाषां त्रुटितवचना शिक्षितवती
ममैवाङ्के हा त्वं शकुनिवदसूनुज्झितवती ॥ ५७ ॥

कौशिकः हा ! सत्यं ! सर्वमेतन्ममैव कारणन्मन्दभाग्यस्य ?

बहवो ह्यसुराः सन्ति कामिन्या कामपूर्त्तये।
मय्येकस्मिँस्तु निर्बन्धाः तस्याः पातिव्रतं महत् ॥ ५८ ॥

शम्बरः (मूर्छितामुग्रां सम्यगवलोक्य)

एकमात्रापि मे कन्या दस्युराज्याधिकारिणी।
समर्पणीया जामात्रे स्वप्राणांश्च न रक्षति ॥ ५९ ॥

हा ! तुग्र ! अतः परं भयङ्करं भवतु युद्धम्। अगस्त्यादीन्नेतॄन् बन्दिग्राहं गृहीत्वा शेषा निष्करुणामार्यजातिं निःशेषां प्रणाशय

मा जीवेन्निर्दया जातिरार्यत्वस्याभिमानिनी।
यन्मोहात्पुत्रिका प्राणतुल्या प्राणैर्वियोक्ष्यते ॥ ६० ॥

हा !

तुग्रः यदाज्ञापयति देवः। अद्यावधि मेलापनोद्योगो निष्फलोऽभूत्। तस्मादतः परं मारणमेव सरलतरं श्रेयस्तरं स्यात्।

शम्बरः कौशिक [जह्नो] भैरवोऽस्याश्चेतनायै त्वद्बलिं याचते अस्त्यन्योऽप्युपायः कोऽपि तस्याश्च तव च जीवनधारणस्य ।

कौशिकः विसंज्ञायां तस्यां अहह सहसा पश्यति मयि
प्रभूतं कारुण्यं प्रवहति मदीयेऽपि हृदये ।
न मे बाधा तस्या यदि भवति रक्षा मम बधात्
परं विश्वासार्हं कथमपि न मे भैरववचः ॥ ६१ ॥
अहं तावत्स्वेष्टदेवतां वरुणं प्रार्थयिष्ये । स एव मे बुद्ध्याः प्रेरकः

शम्बरः यत्किञ्चित्कर्त्तव्यं तत्त्वरितमेव कर्त्तव्यम् । मास्तु कालहानिः मास्तु वृथा कालातिपातः । शिवं शीघ्रं कार्यं त्वशिवविधमालस्यसहितम् ।

कौशिकः उग्रे उग्रे समुत्तिष्ठ समाश्वशिहि मा चिरम् ।
अमृतेनाभिषिञ्चामि सहजीवनहेतवे ॥ ६१ ॥

(ततः स्नेहार्द्रेण करेण स्पृशति च परामृशति च)

(उग्राः शनैः शनैः संज्ञां लभते नेत्रोद्घाटनं नाटयति)

उग्रा आश्चर्यमौषधिरसौ नु सुधारसो नु
स्नेहार्णवामृतरसो नु दयारसो नु ।
प्रेमप्रवाहपरिपूर्णपरुष्णिकायाः
पुण्यप्रसारिपयसां पृषतो नु मन्ये ॥ ६२ ॥

चन्द्रमा मयि विषं ह्यवर्षयत् चन्दनञ्च मनागचन्दयत् ।
ओषधिस्तु मम देहदाहकः का सुधास्ति वसुधातले न्वियम् ॥ ६३ ॥

(करं प्रसारयति । कौशिकः परामृशति ॥)

कौशिकः माता पिता बान्धवास्त्वां पुनर्जातां विचिक्यतु ।
अमृतं पिव जीवार्थे स्वीकरिष्यामि ते करम् ॥ ६४ ॥

उग्रा प्रोज्जीवितास्मि पयसां पृषतैः पवित्रैः
कर्णामृतेन वचसा परिपोषिताऽस्मि ।
एतावतापि तपसा परिसंस्कृताऽस्मि
त्वामेव नाथ पतिदेवतया वृणोमि ॥ ६५ ॥

शम्बर दस्युजातापि चेदार्या सा भार्याऽपि भवेत्तव ।
आर्याणामपि दस्यूनां मैत्री सम्बन्धजा भवेत् ॥ ६६ ॥

कौशिकः कस्तूरीं मृगनाभिजामपि जडः कृष्णेति कः सन्त्यजेत्
नीलेन्दीवरमुत्तमं शिरसिको नारोपयेत्पङ्कजम् ।
किं नीलं गगनं विनिन्दतिं रविश्चन्द्रस्तमिस्रां निशाम्
मूर्खो मुञ्चतु मेचकं मणिचयं प्राज्ञो गुणानञ्चति ।। ६७ ।।

तथापि राजनीत्या तु धीरत्वमुपदिश्यते ।
वरं चिरायितं श्रेयस्यपि नाति त्वरायितम् ।। ६८ ।।

दिव्यास्त्रैर्विजयोऽवश्यं भविष्यति रणेषु मे ।
यमराजस्य विजयः सौमनस्येन मेऽस्त्विह ।। ६९ ।।

ममाचार्योऽगस्त्यो यदवधि वचो मेऽनुमनुते
दिवोदासो यावन्न च कुलगुरुर्मां द्रढयति ।
तदीयार्थे माभूद् गृहकलह इत्येव सहसा
न तामार्यीभूतामपि च वरयामीह विधिना ।। ७० ।।

शम्बरः त्रितसूनां न सहायाश्चेद् भरताः स्युर्दिनत्रयम् ।
वयं त्रितसून्विजेष्यामस्ततः सर्वं यथेप्सितम् ।। ७१ ।।

तथापि पश्य मेघत्वे सेनान्यो युद्धकौशलात् ।
दिवोदासोऽप्यगस्त्योऽपि चानेष्येतेऽत्र बन्दिनौ ।। ७२ ।।

शाता निशाताः साहस्राः समवेताश्च सैनिकाः ।
तृणाच्छन्नास्तृणप्राया ग्रामा दहनसात्कृथाः ।। ७३ ।।

(नेपथ्ये)

भारद्वाजी तापसी दिव्यदेहा लोपामुद्रा शम्बरत्राणकर्त्री ।
सेवालग्ना सर्वयुद्धाहतानां हा हा कष्टं दस्युवीरैर्गृहीता ।। ७४ ।।

कौशिकः हं हो देवी लोपामुद्रा गृहीतेति दस्यूनां पापस्य प्राप्ता पराकाष्टा। तेनैकेन कर्मणा समामन्त्रिता दस्युनाशाय प्रलयकालवेला ।

तस्या देव्यास्तपस्विन्या हाहाकारोऽपि नाशकः ।
सर्वेषामपि दस्यूनामन्तकड्डिण्डिमध्वनिः ।। ७५ ।।

आचार्या गुरवश्च मे यदधुना तुग्रेण बद्धा रणे
जीवत्येव मयि प्रवीरभरताश्चेद्दस्युवीरैर्जिता ।
धिङ्मामृक्षमिमां च दस्युदुहितां कामं च धिग्यौवनम्
धिङ्मे निष्फलतां गतां बहुविधां दिव्यास्त्रविद्यामपि ।। ७६ ।।

लोपापदग्रहणमप्यतिनिन्द्यकर्मा-
स्त्यार्या बलास्त्वनुचितव्यवहार एवम् ।
नात्र स्थितो विषमगोपि तथैकलोपि
शस्त्रादिभिर्विरहितोऽपि मनाक् सहिष्ये ॥ ७७ ॥

श्रुत्वा रणाहतहिताचरणप्रसक्तां
लोपां तपोभिररुणां तरुणीं गृहीताम् ।
यद्दस्युपस्तदनुमोदयतीह कर्म
प्रोल्लङ्घिता भवति मे हृदि शान्तिसीमा ॥ ७८ ॥

सैनिकः (प्रविश्य) देव !

हृता लोपामुद्रेत्यधिककुपितैरार्यसुभटैः
समारब्धं घोरं तुमुलितसमीकं सरभसम् ।
दिवोदासागस्त्यौ प्रथमनिगृहीतौ प्रतिहृतौ
रणेऽस्मिन्दस्यूनां दिशि दिशि विकीर्णं जनबलम् ॥ ७९ ॥

तथाप्येनां लोपामुद्रां अत्रभवते समर्पयामि ।

शम्बरः (सादरं तामुपवेशयति) देवि ! अत्रासनं । सर्वथा निर्भयमिदं स्थानं । (सप्रश्रयं) अहो सैवेयं देवी यया मे निःसहायस्य विजने क्षिप्रस्य मरणासन्नस्य निष्कारण-करुणया प्राणरक्षा कृता मम मूर्द्धन्यस्यामहर्णम् कृतज्ञोऽहं तस्याः । महापराधो निग्रहणं तस्याः तथापि । उग्रे ! भैरव ! अनया देव्या सह सादरं सौदार्यं व्यवहार्यम् सा शीघ्रं भारद्वाजाश्रमं प्रापयितव्या । अथ किं विकीर्णाः सैनिकाः ? धिक् !

तूर्यस्वनेन परिपूर्य दिशां दिशानां शून्यावकाशमुपहासनिराशनाय ।
भूयस्तथाविधमरं समरं करोमि येनाशु नाशमुपयान्तु दिनान्तमार्याः ॥ ८० ॥

तदहं स्वयमेव गत्वा युद्धभूमौ भग्नं बलं पुनः संगृह्णामि । अत्र दुर्गरक्षायै भैरवं स्थापयामि । भैरव ! तावत्त्वमेव दुर्गपो भव ।

भैरवः हः हः हः । दुर्गपोऽस्मि । किं कार्यं करवाणि ? (गच्छति)

उग्रकालाय दास्यामि लोपाकौशिकयोर्वलिं ।
हतान्संजीवयत्येष वेयं रक्षति चाहतान् ॥ ८१ ॥

असम्भवो जयोऽस्माकं यावदेतौ न घातितौ ।
निर्बलिर्निर्बलो लोके वलिं दत्त्वा वली भवेत् ॥ ८२ ॥

भारद्वाजी कुशाग्रश्च कौशिकश्च त्रयोऽञ्जसा ।
त्रिषु यूपेषु वध्यन्तां हनिष्यन्ते प्रभातके ॥ ८३ ॥

शाम्बरी उग्रा (स्वगतं) भैरवोऽप्ययं मे शत्रुः । मत्तातस्य रणे मरणं वाञ्छति राज्यलोभात्

यश्चारित्रपरायणः स्फुटवचा यश्चाटुहीनः शुचिः
यः सत्यव्रतपालकः स्वकथितं वेदोपमं त्रायते ।
यस्मान्नास्ति वरो नरोऽवनितले रूपे गुणे विक्रमे
यो मे जीवनजीवनं तमपि हा यूपे निवध्नात्ययम् ॥ ८४ ॥

तत्सम्प्रत्येव गुप्तेन राजदुर्गद्वारेण गत्वा शीघ्रं संप्रापयामि तदुपकारकं सहायकं भगवन्तमगस्त्यं च राजानं दिवोदासञ्च । (गच्छति)

भैरवः सम्पूर्णं पुरुषोन्नतं शितिशिलालिङ्गं वृहन्निश्चलम्
योनिाच्छद्रनिवेशितं पशुवसालिप्तं भृशं चिक्कणम् ।
पार्श्वस्थैर्विषवेगफूत्कृतियुतैः सर्पैं परीवेष्टितम्
रक्तालिप्तकलेवरं भयकरं वंभैरवं पश्यत ॥ ८५ ॥

अयमुग्रकालो व्यालमालाकरालो वलित्रयं याचते । अनेन पूज्यमानकरवालेन त्रयाणां वलिदानं निवेद्यते । तत्तावन्मृत्युसमये स्वप्रियान् स्मरत ।

कौशिकः अहो !

गिरिशृङ्गोपमं लिङ्गं नित्यं नरवलिं जुषत् ।
यजते मनुजादो धिक् मनुजदोजसाधिकः ॥ ८६ ॥

श्रीवसिष्ठेन महर्षिणाऽहञ्च लोपामुद्रा चात्र केवलं प्रत्यक्षानुभवा यत्र सम्प्रेषिता न तु मरणाय तस्मादस्माकमकिञ्चित्करोऽयं भैरवः । तस्मात्सर्वेषामस्माकं जीवातवे वरुणव्रती जपमहं करिष्यामि । नहि दिव्यास्त्रप्रयोगस्यायमप्यवसरः ।

लोपामुद्रा अस्तु प्रियतममेव स्मरामि । अगस्त्य ! मैत्रावरुणे ! क्वासि ।

यन्नामस्मरणादवश्यमुदरे जातो गदो नश्यति
यन्नामाङ्कितमन्दिरेषु न भवेद्विद्युत्कृशानोर्भयम् ।
यस्यार्घादिभिरर्चनान्नरवरा कामाँल्लभन्तेऽखिलान्
तं मैत्रावरुणं स्मरामि मरणे प्रेष्ठः सचेष्टश्च मे ॥ ८७ ॥

भैरवः करवालं तद्वधायोत्थापयति ।

अगस्त्यः हुं फट् ! (प्रविश्य) भैरवं विद्रावयति जयध्वजं चारोपयति ।

अगस्त्यसैन्यम् जितं दुर्गं जिता क्रोष्टा दासीभूता हि दस्यवः ।
शम्बरो मरणासन्नो वलवद् हेतिभिर्हतः ॥ ८८ ॥

शाम्बरी अगस्त्य ! प्रणमामि त्वां दिष्ट्या त्रातोऽस्ति कौशिकः ।
कौशिक ! प्रणमामि त्वां मोचयामि बधान माम् ॥ ८९ ॥

अगस्त्यः पुत्रि ! स्वीकृता ते प्रणतिः । पूर्णकामा भव । तव यत्नाज्जितोऽयं भैरवः तव यत्नादेव दुर्गं जितम् । कौशिकश्च त्रातः तस्माद्वरं ब्रूहि भद्रे !

शाम्बरी पूर्णकामास्मि संवृत्ता कौशिको रक्षितो यतः ।
एष एव वरो देयः कौशिकोऽस्तु वरो मम ॥ ९० ॥

अगस्त्यः तथास्तु !! (अगस्त्यो लोपामुद्राया बन्धनानि मोचयति)

लोपामुद्रा (स्वगतं)

भैरवस्य कृतज्ञास्मि येनेदं बन्धनं कृतम् ।
यत्प्रसादादगस्त्यस्य दर्शनं स्पर्शनं शुभम् ॥ ९१ ॥

अगस्त्यः अहो किमेतत् ?

आत्मानमिह बध्नामिच्छिन्दन्नस्या हि बन्धनम् ।
यत्स्पर्शो रोमहर्षाय दृष्टिस्तर्षाय कर्षति ॥ ९२ ॥

जडीभूतोऽस्ति हस्तो मे लज्जयाहं पराजितः ।
अस्या हि शाम्वरी वन्धं छिनत्तु चरितोज्वला ॥ ९३ ॥

शाम्बरी लोपामुद्रे ! सुदृढं ते वन्धनं प्रतीयते । अगस्त्यो मुनिरपि तदधिकमवि-कमवध त् ।

लोपामुद्रा अस्तु शाम्वरि ! त्वमेवात्रापि यथोचितं तथा कुरु ।

अगस्त्यः पुत्रि ! त्वमेव ताञ्च परिमोचय । (तथा करोति) ।

उग्रा शाम्बरी तातस्त्वया परित्रातस्त्वां नमामि तपोधने ।
भैरवोऽभ्यागतायास्तेऽकरोदहह दुर्दशाम् ॥ ९४ ॥

लोपामुद्रा धन्योऽस्ति शम्वरो यस्य सम्भूता त्वादृशी सुता ।
कृष्णया निशया चन्द्रस्त्वया राजतु कौशिकः ॥ ९५ ॥

शाम्बरी महानुग्रहस्ते तातत्राणादधिकः धन्यवदास्ते मैत्रावरुणे ! अपि कुशली तातः ?

अगस्त्यः अस्ति कुशलं दिवोदासस्यातिथ्ये किन्तु संशयापन्नास्य दशा राजवैद्यहस्ते ।

शाम्बरी हा कष्टं भैरवोऽप्यत्र नास्त्येव । तद्रक्षार्थकं प्रेषयामि ।

अगस्त्यः स्वतन्त्रास्तस्य सेवार्थं सर्वे तस्याङ्गरक्षकः ।
वयञ्च सर्वे गच्छामः स्वागतं तेऽपि निश्चितम् ॥ ९६ ॥

कौशिकः (ऋक्षस्य वन्धनानि छित्वा तं समालिङ्गति) वयस्य दिष्ट्यास्माकं निर्भयत्वं स्वातन्त्र्यं च श्रीभगवतो दयामात्रेणास्मिन् गगनचुम्बिशैलसानौ सर्वे सोल्कास्तडिद्वन्तः प्रशान्ता निर्मलाश्च स्वच्छाश्च सर्वा दिशः । अद्य सर्वेषां जीवलोकानां मङ्गलाय भूयात् स्वातन्त्र्यविजयोत्सवः ।

सर्वे तथास्तु

ऋक्षः मम तु नास्ति हर्षः । अहं तु स्वर्गादिव निपातितः ।

अगस्त्यः अहो रमणीयं (निरूप्य निर्वर्ण्य)

दक्षिणे शाम्वरी श्यामा वामे गौरश्च कौशिकः ।
निशाह्नोर्मध्यगोषःश्रीर्लोपामुद्रा विराजते ॥ ९७ ॥

राजमहिषी अभ्यागता महादेव्यो मुनयश्च तपोधनाः ।
सर्वेषां स्वागतार्थाय महिषीयमुपस्थिता ॥ ९८ ॥

शाकाहारं फलाहारं मत्स्यमांसोदनादिकम् ।
यथा यस्याभिरुचितं गृह्णीत स्वगृहेष्विव ॥ ९९ ॥

शाम्वरी सम्प्रत्यनयैव राजमहिष्याहं समातृका ।

अगस्त्यः शाम्वरि ! किन्ते भूयश्च वाञ्छितं करवाणि ?

शाम्वरी लोपामुद्रे देवि ! त्वमेव मैत्रावरुणि वरं याचस्व ।

सर्वे दिष्ट्या दिष्ट्या । (लज्जते)

कृष्णा घना सितरुचं गगने भरन्तु
क्रूरा नरा जगति शान्तिपरा भवन्तु ।
आर्यत्वमेतु सकलोऽपि च दस्युलोको
लोको भवेत्सकलविश्वमयो विशोकः ॥ १०० ॥

अगस्त्यः तथास्तु—

निष्क्रान्ताः सर्वे

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

अथ पञ्चमोऽङ्कः

मिश्रविष्कम्भः

व्याघ्रपादः अजीगर्त ! जावाल ! आगच्छत द्यूतमारभ्यते ।

जावालः श्रीअगस्त्यकौशिकादयो महत्तरा युद्धेषु जयं कुर्वन्ति । दासीः गृहेष्वाभरन्ति वयमक्षैर्दीव्यामो । जयपराजयौ समावुभयत्र ।

अजीगर्त्तः भ्रातरः सर्वतः प्रथमं सौत्राणीं सुरां पिवामः ।

जयन्तः तथास्तु ।

द्यूते चैव सुरायां च लोके दोषो न दीयते ।
दस्यूनामार्यकरणे महान् कोलाहलोऽस्त्ययम् ॥ १ ॥

व्याघ्रपादः इमे वेदं जानन्ति । यथा । अक्षैर्मा दीव्येति प्रक्षिप्तम् । तथैव कृण्वन्तो विश्वमार्यम् इत्यपि प्रक्षिप्तमेव स्यात् । किन्तु दस्युकन्यया सह परिणयहेतोर्महाराजस्य जातिवहिष्कारः प्रस्तूयते भरतेनागस्त्येन वसिष्ठेन तृत्सुभिश्च ।

जावालः दस्युजास्तु दासीरूपेण प्रायः सर्वैरेव स्वगृहे धृताः । कौशिकेन वैदिकेन विधानेन विवाहिता । दस्युता न दूषिता केवलं विधिरेव दूष्यते ।

अजीगर्त नहि नहि । दस्युजाया राजमहिषीपदं न सहन्ते भरताः । अत एव तां दासीरूपेण धारयितुमिच्छति अगस्त्यः ।

जयन्तः अपत्नीकोऽस्त्यगस्त्यः । रोहिणी चास्य कन्या विवाहयोग्या । गुरोर्गार्हस्थ्यं गुरुकन्याया महिषीत्वं सम्पाद्य गुरुभक्तिः पूर्णा स्यात् ।

व्याघ्रपादः किन्तु कौशिकः पाणिगृहीतीं शाम्बरीं गुरवेऽपि नार्पयति ।

जावालः शाम्वरी च कौशिकं न त्यजति । अगस्त्यः शाम्वरीं याचते । उभयोरपि समानो निर्बन्धः । स खलूभयतः पाशारज्जुमनुभवति । किं कुर्यात् ? एको गुरुरपरा गुर्विणी ।

सर्वे (हसन्ति) हा हः हः वस्तुतः खल्वेको गुरूरपरा गुर्विणी ।

अजीगर्तः अपरोऽपि खल्वयं हेतुः । यदि कौशिकस्य पुत्रो जायेत स च दस्युदौहित्रत्वाद्भरतानां राजा न भवितुमर्हति । अतस्त्याज्या सा शाम्बरीति विशेषो निर्बन्धः ।

जयन्तः सुदासेन सह परिणयमनिच्छन्त्या रोहिण्या च तस्मिन् वालसखे श्रीकौशिके स्नेहविशेषः श्रूयते । किन्तु कौशिकस्त्वेकपत्नीव्रतः ।

व्याघ्रपादः स खलु दास्यवीपतिरपि परमश्चरित्रवान् । स राज्यं कामं त्यक्ष्यति जातिं च त्यक्ष्यति तथापि दास्यवीं स्वाश्रितां न त्यक्ष्यति । वयं तस्य कौतुकं द्रक्ष्यामः । आरभ्यतां द्यूतम् । अयं मे पणः ।

जाबालः (अक्षान् क्षिपति) जितं जितं, देहि मे ग्लहः ।

व्याघ्रपादः नहि जितम् । नहि दास्यामि तुभ्यं पणितद्रव्यम् ।

जाबालः कथं न दास्यसि ? दास्याः पुत्र ! किं द्यूतेऽपि वितथम् ? । नेयं खलु न्यायालयो यत्र शपथपूर्वकं साक्ष्यमनृतभूयिष्ठमुच्यते ।
(मुष्ठामुष्टि युध्यतः)

जयन्तः अहो केचिद्भद्रपुरुषाः समायान्ति (सर्वे शान्ताः भवन्ति)

ऋक्षः (प्रविश्य) एतेऽगस्त्यो दिवोदासो लोपामुद्रा च महाशयाः ।

जयन्तः अहो दिव्यरूपा लोपामुद्रा दूराद्दीप्यते ।

ऋक्षः सा साम्प्रतं कौशिकमिष्टदेवमिव सञ्जीवयत्याश्वासयत्यपि ।

जयन्तः वस्तुतो विरला जानन्ति श्रीकौशिकस्य माहात्म्यम् । स विद्यया तपसा दमेन दानेन शीलेन सर्वैः सद्गुणैर्महर्षिसत्तमः ।

जाबालः किं कथयसि ? किमसौ भगवतोऽगस्त्याद्वशिष्टाद्वशिष्ठतरः ?

अजीगर्तः अथ किम् ? नायं दीव्यति न सुरां पिबति न दिवीर्पूर्धारयति न च धूम्रपानं करोति । दान्तेन्द्रियो धृतिमान् चारित्रपूर्णः परोपकारी पतितपावनो दम्भाहंकार-वर्जितो मृतसञ्जीवनं च जानाति ।

व्याघ्रपादः आः तत्किमनेन कुहूपमा कृशाङ्गीखुरणशी शाम्बरी विवाहिता ।

ऋक्षः सा राजपुत्री स्वयंवरा । स्वकुलश्रेष्ठा सुसंस्कृता सदाचारपरा । प्रार्थयन्ती च सा शतवारं कौशिकेन तिरस्कृता । तथापि गुणे शीले प्राणदानपर्यन्तयाहं प्रीत्या विशेषतः परिपूर्णासीत् । सा कौशिकार्थं स्वपित्रोर्वासदुर्गमपि भगवतेऽगस्त्याय समार्पयत् । ततः स कौशिकस्तया वशीकृतः । भगवत्या लोपामुद्राया भगवतोऽगस्त्यस्य च वरदानेन कौशिकस्तां निष्कामधर्मभावेन वरयामास । गुर्विणी कथं समध्ये गङ्गा विमुञ्चतु ।

अजीगर्तः अहो ममापि पत्नी सम्प्रत्यासन्नप्रसवा । तस्मात्त्वरितं धावामि ।

(स्थानं कौशिकावासः)

कौशिकः (स्वगतं)

अविमृष्य न किञ्चिदप्यकार्षं
न च किञ्चित्त्वरया न कामवेगात् ।
शुचिना मनसाऽऽत्मनो निदेशात्
अनुतस्थौ वरुणोपदेशपूर्वम् ।। २ ।।

यो ह्यस्तनीं दस्युजातिं मूलच्छेद्याममन्यत ।
स तामद्य परित्याज्यां श्वस्तां ग्राह्यां वदिष्यति ।। ३ ।।

वसिष्ठस्त्वस्पृश्यां गणयति सती दस्युकुलजाम्
अगस्त्यस्तां भोग्यां भणति न विवाह्यां सुविधिना ।
अहं देवाज्ञप्तः परिणयसमर्हां प्रकलये
जुषन्त्वस्याः श्राद्धं यजनमिह देवाः सपितरः ।। ४ ।।

श्रीघोषादेवी (प्रविश्य) वत्स ! जाने सर्वं त्वया समीचीनमेवानुष्ठितम् । तथापि समयोचितं यथा भगवानगस्त्यः कथयति तदविचार्य त्वरितं त्वया कर्त्तव्यम् । स खलु शाम्बरीं पुत्रीभावेन रक्षिष्यति लोकमुखमुद्रणाय अन्यथाऽस्माकं पौरोहित्यमेव त्यक्ष्यति वसिष्टः परवशः । अहन्तु

यावन्नतां कुलगुरू ह्युररीकरोति
यावत्तया सह भवान्न करोति यज्ञम् ।
यावत्प्रजाश्च सकला नहि सम्मताः स्यु-
स्तावद्दधानि ममतां नहि दस्युजायाम् ।। ५ ।।

कौशिकः पूज्ये जननि !

तव वचः शिरसा निवहाम्यहं
गुरुवचोपि विचार्य करोम्यहम् ।
अभिलषामि सदा वरुणाज्ञया
सुमनसां मनसामनुशासनात् ।। ६ ।।

घोषा एष नागरिकप्रधानः कर्दमः समायाति, अतोऽहं गच्छामि ।

कर्दमः (प्रविश्य) जयतु जयतु देवः ।

कौशिकः कर्दम ! तात ! अस्ति किमपि दस्युजायां शाम्बर्या विषये वक्तव्यम् ?

कर्दमः नहि खलु मम स्वकीयं मतम्, किन्तु लोकमतं तु दावाग्निवत् प्रसारमायाति ।

कौशिकः भिन्नरुचिर्हि लोकः। तर्हि कस्यानुमतं क्रियताम् ?

कर्दमः नहि नहि। अस्मिन्विषये तु सर्वेषामैकमत्यम्। सर्वे च महर्षेर्वशिष्ठस्य मते लोकाः। नहि दस्यूनामार्यधर्मे प्रवेशः समावेशश्च सम्भवः। श्रीभगवानगस्त्यो राजनीत्या प्रवर्तते। विदितस्ते तस्य निश्चयः ?

कौशिकः सम्यग्विदितः। स भरतानां पौरोहित्यं त्यक्षयति।

कर्दमः न केवलं पौरोहित्यम्। किन्तु श्वः प्रभातपर्यन्तं स न सम्भावितश्चेत् स प्राणान्परित्यक्षयति। अतस्तपस्विनी रोहिणी भृशं रोदिति। अयं भगवान् वसिष्ठः समायाति। अतः प्रजामतमुक्ताहं साधयामि।

श्रीवसिष्ठः (प्रविश्य) जयतु कौशिकः।

कौशिकः (प्रणम्य) महर्षे मैत्रावरुणे ! प्रणतयः।

वसिष्ठः स्थितप्रज्ञो भवतु भवान्। अथ का खल्वियं भवतोऽप्यविमृश्यकारितेव ?

कौशिकः अविमृश्य न किञ्चिदप्यकार्षं
न च किञ्चित्त्वरया न कामवेगात्।
शुचिना मनसात्मनो निदेशाद-
नुतस्थौ वरुणोपदेशपूर्वम् ॥ ७ ॥

वसिष्ठः त्रातव्यं खलु जीवनं तु भवताऽगस्त्यस्य दीक्षागुरोः।

कौशिकः आसन्नप्रसवा मयाऽसुरसुता त्याज्या निरागाः कथम् ॥ ८ ॥

वसिष्ठः का हानिर्यदि दस्युजा तव गुरोर्दासी भवेन्नामतः।

कौशिकः सा दासीवदहञ्च दासवददासबन्ध एवास्ति नः ॥ ९ ॥

वसिष्ठः तत्त्यागं यदि नेच्छसि त्वमधुनागस्त्याय तामर्पय।

कौशिकः नैवाज्ञापयतीत्थमेव वरुणो भूयोऽपि पृष्टो मया ॥ १० ॥

वसिष्ठः त्वां त्यक्ष्यन्त्यखिलाः प्रजाः सभरता सद्वान्ववास्तृत्सवः।

कौशिकः किं कुर्यां यदि ते विवेकरहितास्तिष्ठन्ति युष्मन्मते ॥ ११ ॥

वसिष्ठः राजभ्रंशभयं न ते न च भयं सद्यो वधस्यात्मनः ?

कौशिकः भीतिर्मे हृदि जातु नोद्भवति यद्देवः प्रसन्नो मयि ॥ १२ ॥

वसिष्ठः यदि ते जननी देवी घोषापि स्वजीवितं जह्यात् ?

कौशिकः तत्रापि मे न दोषो यदि नास्त्यस्याश्चिरायुषः शेषः ॥ १३ ॥

वशिष्ठः न मातुर्जीवितं प्रेयो यथा ते शाम्बरी प्रिया ?

कौशिकः परिणामा न दृश्यन्ते धर्मकर्त्तव्यपालने ॥ १४ ॥

(प्रविशन्ति दिवोदासो लोपामुद्रा चागस्त्यश्च)

कौशिकः एष कौशिकस्य प्रणामपर्यायः ।

सर्वे विमला ते बुद्धिः सर्वदास्तु । (सर्वे उपविशन्ति)

कौशिकः मातर्लोपामुद्रे सर्वेषां प्राणिनां दुःखभारं निरस्य क्वापि प्रक्षिपसि दूरं तेन नितरां प्रसन्नास्या विहरसि ।

प्रसन्नास्या दीप्त्या त्रपयसि रविः प्रागुदयिनम्
विभूषाभिर्हीनाप्यसितमसितं कौशिकमधाः ।
दधाना कौमारव्रतमपि विशन्ती मुनिमन-
स्यहो लोपामुद्रे तपसि सफलेवाद्य लगसि ॥ १५ ॥

लोपामुद्रा वत्स कौशिक ! अद्य महर्षिभूतमिव त्वामहं पश्यामि । अतः प्रसन्नास्मि

मन्त्रद्रष्टा त्वमसि सविता यत्त्वया लोलविम्वः
साक्षाद्भूमाविह किल समाकर्षितो मन्त्रमुग्धः ।
आर्या शुद्धाः भवदपि तदा शाम्वरी मन्त्रशक्त्या
रोहिण्याद्या भरतकुलजाश्चापि साक्ष्यं वदन्ति ॥ १६ ॥

कौशिकः मातर्देवास्तु करुणापारावारा न तु लोकाः ।

लोपामुद्रा महाराज दिवोदास ! अस्ति भवतां मन्त्रशक्तौ विश्वासः ?

दिवोदासः अथ किम् ? यदि मन्त्रेष्वेवाविश्वासः स्यात्तर्हि सर्वेषां यज्ञानां तपसां च निष्फलत्वं सम्पद्येत धर्मस्य तु आधारमेव विपद्येत ।

लोपामुद्रा भगवन्नगस्त्य ! महर्षे ! कीदृश्यस्यां शाम्बर्यामिदानी भवता मनोभावना ?

अगस्त्यः सूर्यसाक्ष्यमनादृत्य कथं जल्पतु मादृशः ।
मया तु पूर्वमज्ञाते प्रतिज्ञातं ध्रुवं हि तत् ॥ १७ ॥

लोपामुद्रा भगवन् वसिष्ठ ! महर्षे ! कथं भवान्मन्यते सूर्यसाक्ष्यम् ?

वसिष्ठः सत्यमेतत् सूर्यसाक्ष्यम् । ऋतेनाभिषिक्ता मन्त्रराजेन शोधिता शुद्धैव शाम्बरी भाति । किन्तु न सा कृष्णाङ्गी गौराङ्गीभूता । न च खुरणसा सुनसीभूता । श्रीभगवता सूर्येणाप्यस्या न हि जातिः परिवृत्ता । तस्मान्मम तु सम्मत्या तस्याः परित्यागो हि श्रेयान् । यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम् ।

लोपामुद्रा भो जमदग्ने ! कीदृशी भवतः सम्मतिः ?

जमदग्निः रक्ष्या सच्चरिता तु दानवसुता राज्ञो ययातेर्यथा
वध्या स्यान्मम रेणुका सकलुषा सद्राजवंशोद्भवा ।
चारित्रं मम सम्मताविह महामूलं परीक्ष्या ततः
किं वंशेन गुणेन वाऽध्ययनतश्चारित्रहीनो हतः ॥ १८ ॥

लोपामुद्रा हा हन्त हन्त ! परां काष्टां प्राप्तः खल्वयं जात्यभिमानः ।

यस्या भवानपि विशुद्धिमुरीकरोति
लीलादिभिर्गुणवरैरपि याऽभ्युपेता ।
तातं विहाय विजयाय भवत्सहायम्
चक्रे तथापि करुणा न रूणद्धि युष्मान् ॥ १९ ॥

तद्भगवन्नगस्त्य ! भवानेवाज्ञानकालकृतां प्रतिज्ञां उपसंहरतु ।

अगस्त्यः देवि ! किं ब्रवीषि ! अगस्त्योऽप्यहं प्रतिज्ञामुपसंहरामि

विन्ध्याचलोन्नतिभरं परिवर्धमानाम्
वारां निधैरपि नियम्य तरङ्गभङ्गान् ।
प्राप्तं समुज्ज्वलयशः स्वकृतप्रतिज्ञाम्
सन्त्यज्य मृत्युभयतस्तृणवत्त्यजेयम् ॥ २० ॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात्प्रतिज्ञा वा कृता पुरा ।
सा मे पूर्णा भवेन्नोचेत् नश्येन्मे धवलं यशः ॥ २१ ॥

लोपामुद्रा कौशिक !

रक्षणाय गुरोः प्राणान्तस्मायार्पय शाम्बरीम् ।
मन्ये मय्येव विहितं तन्महान्तमनुग्रहम् ॥ २२ ॥

कौशिकः देवि !

या शाम्बरी गुरुवरेण वरेण दत्ता
याङ्गीकृताऽनुसरता वचनं भवत्याः ।
योरीकृता बहुतिथं समयं विमृश्य
तां किं त्यजेयमघृणो मरणाय तस्याः ॥ २३ ॥
मृत्युर्गुरोर्भवति चेद्भवतु प्रकामं
मृत्युर्ममापि भविता तमनुक्रमेण ।
अन्येऽपि यान्तु मरणं किमु तत्र कुर्या-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥ २४ ॥

लोपामुद्रा (स्वगतं विचारयति) अस्तु ततोऽहमेव कौमारव्रतं परिहाय सर्वामिमां समस्यां परिशोधवानि किन्तु—

रभसा यो भवेद्दोषस्तपसा स न साध्यते ।
तस्मात्सम्यग्विमृश्यैव करिष्येऽहं यथोचितम् ॥ २५ ॥

हा धिक् !

कुर्वन्त्यधर्ममपि यन्नयनाभिघातात्
कुर्वन्त्यकार्यमपि यद्वचनानुरोधात् ।
तादृश्यहं निजतपः परिभूय भूयाम्
भूयो न मे भवतु जातु वचो विरोधः ॥ २६ ॥

(अगस्त्यं पश्यति)

अगस्त्यः (स्वगतम्) अहो !

किं कामिनीव सहसा मयि साचिनेत्रा
मन्दस्मितेन हृदयं हरतीव मेऽद्य ।
श्वः प्रातरेव मरणं मम निश्चितं हि
प्राप्तं तु काममधुनाऽपि न हातुमीशः ॥ २७ ॥

लोपामुद्रा हा हन्त !

आदर्शभूत इव मे सममभूदृषिर्यो
यस्मिन्मनो मम वृतं तपसः समृद्ध्यै ।
यो वन्वमोचनमिषात्तनुमस्पृशन्मे
सोऽयमशृणोन्न मम वाचमतो व्रजामि ॥ २८ ॥

दिवोदासः भारद्वाजि !

वागम्भृणीव विदुषी च महर्षितुल्या
देवि ! त्वमेव परिनर्त्तयसीव लोकम् ।
त्वं कौशिकस्य मनसः परिचालयित्री
मा गाः परिस्थितिमिमां कठिनां विहाय ॥ २९ ॥

लोपामुद्रा संसारेऽस्मिन् श्वः प्रभातो न भूयात्
इत्येवाहं यामि सद्यः स्वगेहम् ।
जात्या वित्तस्याप्यधीतस्य दर्पात्
सर्वे यूयं योषितां वैरिणः स्थ ॥ ३० ॥

रोहिणी　(प्रविश्य) लोपामुद्रे ! कौशिक ! त्वर्यतां त्वर्यतां त्वर्यताम् । सम्प्राप्तः खलु शाम्बर्याः प्रसव समयः ।

लोपामुद्रा　कौशिक ! अहमेव तत्र गच्छामि दुःखिन्याः परित्राणाय । त्वमत्र निश्चिन्तस्तिष्ठ । कौशिक ! अद्य शबरीशल्यमुक्ता स्यात् मया सह शान्तिसदने कियत्कालं सा स्थास्यति । अद्यैवार्द्धरात्रे तस्मात्पथः तां दीर्घिकामुत्तीर्याहमितः स्वगेहमवश्यं गमिष्यामि । शिष्यैः परिवृताहं तत्र निवत्स्यामि ।

कौशिकः　देवि !

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रासि नास्ति मे त्वादृशः सुहृत् ।
शक्नोमि वैरिणो जेतुं अशक्तोऽस्मि सुहृज्जने ।। ३१ ।।

लोपामुद्रा　कौशिक !

मास्म भैषीरयं प्रादुर्भविष्यत्यासुरायणः ।
सन्ततिः कुशिकस्येयं स्याज्जगन्मङ्गलप्रदा ।। ३२ ।।

अगस्त्यः　यादृशी खलु परोपकारिणी त्वं तथा भवतु मेऽपि रोहिणी ।
त्वा निरीक्ष्य तव सङ्गमादिमं जीवनं सफलयिष्यति ध्रुवम् ।। ३३ ।।

लोपामुद्रा　(सस्मितम्)

यद्यपीह सुभवान् जुगुप्सते
सा तु मां स्वजननीव मन्यते ।
आवयोः प्रणयमेव पुञ्जितम्
रोहिणीमपि निबोध कौशिकम् ।। ३४ ।।

अगस्त्यः　किमतः परं स्पष्टतरमुक्तं स्यात् ?

इयं दृष्टिः स्निग्धा मधुमधुरमुग्धाऽपि सरसा
स्मितं च स्मेरास्याः स्मरसमरसाहाय्यसचिवम् ।
गृहीतं मातृत्वं मम सुदुहितुः स्वेन वचसा
तया मह्यं स्पष्टं कथितमिह चेष्टासु सकलम् ।। ३५ ।।

दिवोदासः　देवि !

यावद्यौवनमस्ति तावदमितं लोकोपकारं कुरु
पश्चात्तापकरी समेति न चिरं पश्चाज्जरा जर्ज्जरा ।

लोपामुद्रा　देवानां वरदानतो मम युवावस्था चिरस्थायिनी
कालस्यापि न शक्तिरस्ति हरणे सौन्दर्यराशिर्मम ।। ३६ ।।

अगस्त्यः देवि !

पुण्यवाञ्जायते जीवो लोके तव समागमात् ।
आदर्शभूता नारीणामेव त्वमिह राजसे ।। ३७ ।।

कौशिकः देवि !

गृहाण मार्गेऽपामार्गं शाम्बरीशल्यमोचनम् ।
तव दर्शनमात्रेण कल्याणं तत्र जायताम् ।। ३८ ।।

लोपामुद्रा कौशिक ! निश्चिन्तो भव । इयमहं तत्र प्राप्तास्मि ।

दृश्यम्—स्थानं शाम्बरीसदनम्
समयः—सायन्तनी वेला

अजीगर्तः श्रीमहर्षिर्लोपामुद्रादेवी त्वद्य रात्रौ स्वाश्रमं यास्यति तस्माद् अहमिदानीमितः समागतः । वातायनादहं पश्यामि तां देवीं चिन्ताकुलामिव तत्रोपविष्टाम् । तस्माच्छनकैरहं तामाह्वयामि । हे देवि लोपामुद्रे ! लोपामुद्रे !!

लोपामुद्रा अहो अगस्त्यमुनेर्वचनं च सारभूतम् । जाने—

मम मनसि मनोरथस्य वीजं वचनमदो मुदमञ्चतीव काले ।
समुचितसमये नियुक्तदेशे झटिति समङ्कुरितं विलोकयिष्ये ।। ३८ ।।

अये ! कोऽयं मां शनकैरिव व्याहरति द्वारदेशात् ? किमयमेव श्रीभगवान् अगस्त्यो मैत्रावरुणिः ?

अजीगर्तः नहि नहि देवि ! अजीगर्तोऽस्मि ।

लोपामुद्रा (प्रविश्य) अहो ! अजीगर्त ! प्रस्तुतः किं त्वमपि मया सह ममाश्रमं गन्तुम ?

अजीगर्तः नहि नहि देवि ! यतो दुःखस्य पर्वतो ममोपरि अत्र संम्प्रति प्रपतितः ।

लोपामुद्रा हा ! किं जातम् ?

अजीगर्तः देवि यज्जातं तदेव तत्कालं मृतम् । मत्पत्न्या सम्प्रत्येवायं पुत्रो जनितोऽयं तु जातमात्रो मृतश्च ।

लोपामुद्रा अहह ! देवेच्छा ! किं क्रियते ? किमर्थमत्रानीतः ?

अजीगर्तः देवि ! एवं ऋक्षमुनिकृता प्रसिद्धिर्यत्कौशिको मृतसञ्जीवनीं विद्यां जानातीति । शम्बरस्यापि मृतशिशुस्तेन पुनरुज्जीवितः कृतः अतोऽहं तत्प्रसादादितो जीवितं पुत्रं नेतुमिच्छामि ।

लोपामुद्रा तथास्तु। (स्वगतं विचारयति) अहो लीलाप्रिया हि देवाः लोकानीदृशेन प्रकारेण प्रेरयन्ति। (प्रकाशम्) साधु कृतम्। अथ कौशिकं प्रार्थयामि तव पुत्रस्य जीवितस्य प्रदानाय। किन्तु ततःपरं स बालकः कौशिकस्य भविष्यति तव पत्नी तस्य धात्री भविष्यति।

अजीगर्तः यथा वदति देवी।

पुनरुज्जीवनादेव पितृत्वं कौशिकस्य हि।
अहं तु तस्य नाम्नैव स्नेहाच्च भविता पिता॥ ३९॥

लोपामुद्रा (मृतं बालमभ्यन्तरं नयति ततः कियता कालेन जीवितमानयति।)

अजीगर्तः (रुदन्तं बालकं दृष्ट्वा) सहर्षं। दिष्ट्या दिष्ट्या।

कौशिकोऽयं जीवदाता चिरञ्जीवेन्महीपतिः।
यस्य प्रसादाज्जीवन्ति प्रजाः सर्वाः गतायुषः॥ ४०॥

अहो आश्चर्यम्! न केवलं बालोऽयमुज्जीवितोऽभूत। किन्तु स खलु प्राणदातृवत् रूपवान् गौराङ्गश्च समपद्यत। साधु साधु (गच्छति)

लोपामुद्रा भद्रे शाम्बरि!

भरतानां प्रसादाय परित्रातः शिशुर्मया।
त्वं तावदेनमानीतं मृतकं परिपालय॥ ४१॥

कौशिक! शाम्बरी मुक्तशल्येयं सम्प्रत्येव त्वया सह।
ममाश्रमं समायातु शिविकेयमुपस्थिता॥ ४२॥

रोहिणि! त्वं च भगवन्तमगस्त्यं ब्रूहि!

निधायाङ्के मृतं बालं रुदती याति शाम्बरी।
भवत्प्रतिनिधीभूता लोपामुद्रेह मन्यते॥ ४३॥ (गच्छति)

अगस्त्यः अहो! कथं देव्या लोपामुद्रया मत्प्रातिनिध्यं स्वीकृतमिति स्वयमहं तत्रैव गत्वा पृच्छामि (गच्छति)

लोपामुद्रा (स्वगतम्)

अद्यार्द्धरात्रेऽपि च दीर्घिकापथः
सङ्केतितो यः समुपागतोऽस्त्ययम्।
न दृश्यते सोऽत्र किमाचराण्यहम्
करोमि वा कर्षणवेणुवादनम्॥ ४४॥

अजीगर्तः या त्रिभिर्न निशितीर्यंवे नदी तेन रक्ष शिविकास्थशाम्बरीम् ।
सा प्रसूतिशिथिला स्वभावतः स्थानप्यतिभयङ्करं त्विदम् ॥ ४५ ॥

अथ यामि नदीसमागमं परिपश्यामि तरङ्गिणीतटम् ।
परिखुप्तजनेऽपि सर्वतस्त्विह जार्गत्ति निशीथसंयमी ॥ ४६ ॥

अगस्त्यः (प्रविश्य) (लोपामुद्रां शाम्बरीञ्च दृष्ट्वा) देवि !

कौशिकेन विधिना समर्पिताम्
किं वृथा नयसि शाम्बरीमितः ।
कोऽत्र हेतुरिह सम्मतिं विना
प्रातिनिध्यमुररीकृतं मम ॥ ४७ ॥

लोपामुद्रा भगवन्नधुना क्षमस्व ममापराधो यदि ते कृतो मया ।
महिलाजनमुज्जुगुप्सते नहि ते प्रीतिकरास्ति शाम्वरी ॥ ४८ ॥

सेवां सद्यः प्रसूतायास्त्वादृशः कर्त्तुमक्षमः ।
तस्मादवश्यकर्त्तव्या सेवैवाङ्गीकृता मया ॥ ४९ ॥ (दूरमपसरति)

अगस्त्यः (तामुपेत्य)

इदमस्ति मृषाविदूषणं गणये त्वां रमणीपु भूषणम् ।
अत एव रहस्युपागतः तव लीलामयजीवने रतः ॥ ५० ॥

लोपामुद्रा उपलब्धवती निजान्तिकं विजने त्वां निशि शम्वरान्तकम् ।
स्वकरेण गृहाण मे करं निखिला देवगणा हि साक्षिणः ॥ ५१ ॥

अगस्त्यः ऊँ सुमुहूर्त्तमस्तु सुमूहूर्त्तमथास्तु
समयोगमङ्गलमयसमयोऽस्तु ।

लोपामुद्रा उभयो मनोरथोऽप्यभयोऽस्तु
गमनार्थकं परमतो जगदस्तु ॥ ५२ ॥

अगस्त्यः खनन् खनित्रैश्च तपोभिरुग्रै समश्रमैरेष गृहस्थधर्मः ।
प्रजामपत्यं बलमिच्छुकोऽहं सत्यां हि देवाशिषमागतोऽस्मि ॥ ५३ ॥

सुमुहूर्त्तमिदं भवेत्करं तव गृह्णामि न केवलं करम् ।
तपसामभितापशान्तये ह्युपगूहामि कलं कलेवरम् ॥ ५४ ॥

लोपामुद्रा अधुना परतन्त्रतां गता न शरीरे मम जातु वश्यता ।
त्वमभूरतनोः प्रसादनः सुतनोरप्यधिकारवानितः ॥ ५५ ॥

अगस्त्यः (परिरम्य) अहो !

कथामात्रं स्वर्गे सुखमिति वचोऽपि श्रुतिगतम्
न तल्लभ्यं लोके न पुनरनुभूयेत वपुषा ।
तवाश्लेषं मन्ये प्रथममिलने प्रेमसहितम्
परब्रह्मानन्दादधिकसरसानन्दजनकम् ॥ ५६ ॥

इदमपि तपसः फलं मम स्यात्
इतरदहो सकलं न किञ्चिदस्ति ।
चिरमपि न जहामि देहयोगं
निशि लब्धं रहसीह दैवयोगात् ॥ ५७ ॥

लोपामुद्रा अयं मरुन्मन्दसुगन्धशीतलोऽप्यदश्च कल्लोलकरं नदीजलम् ।
सुचारुचन्द्रा रुचिरा विभावरी समागमस्तेऽपि न विस्मरिष्यते ॥ ५८ ॥

अगस्त्यः आर्ये !

एतावत्कालपर्यन्तं वृथा दम्भो मया कृतः ।
तवापि मानसो भावो नावोधि मुनिना मया ॥ ५९ ॥

लोपामुद्रा अहो क्षणदायां यदा तीक्ष्णा जायते तनयैषणा ।
तदा शरणमिच्छन्ति वरं जाया वरप्रदम् ॥ ६० ॥

अगस्त्यः सहस्त्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम् ।
शतं वा दशतुल्याः स्युरेको वापि सहस्त्रजित् ॥ ६१ ॥

लोपामुद्रा सहस्त्रसम्मितः पुत्र एकोप्यस्तु तपोवन !
एकोऽपि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुर्दृढव्रतः ॥ ६२ ॥

अगस्त्यः सम्प्राप्ते सौम्यसमये दृढदस्योर्जननी भव ।
श्रौतस्मार्तेषु यज्ञेषु स मे स्यादिध्मबाहकः ॥ ६३ ॥

अथ प्रभृति शाम्बर्या महिषीपदहेतवे ।
पूर्णं यत्नं करिष्यावो निश्चिन्तः कौशिको भवेत् ॥ ६४ ॥

लोपामुद्रा अहो धन्यास्मि ! कृतार्थास्ति शाम्बरी च किन्तु भाग्यहीनात्यल्पायुषी खल्वस्ति शाम्बरी ।

(नेपथ्ये कलकलः)

नेपथ्ये—भैरवेणोग्रकालेनाक्रमताऽकस्मिकक्रमात् ।
खण्डितं शाम्बरीशीर्षं कौशिकेन स खण्डितः ॥ ६५ ॥

लोपामुद्रा (प्रविश्य)

अहोऽयं निहितः पाप्मा निजकर्मफलादिव ।
अत्याहितं तु वत्साया शाम्बर्याः सह्यते कथम् ॥ ६६ ॥

अगस्त्यः एवं (तदेव पठति) । वत्सस्य कौशिकस्य सविधं गच्छावः तस्य परिसान्त्वनाय ।

सौभाग्यान्मम संयोगः सञ्जातोऽयं त्वया सह ।
दौर्भाग्यात्कौशिकस्यायं वियोगोऽसुरकन्यया ॥ ६८ ॥

लोपामुद्रा नहि नहि !

सौभाग्यात्कौशिकस्यापि वियोगोऽसुरकन्यया ।
सौभाग्यादेव कस्याश्चित्कन्यायाः देवलीलया ॥ ६९ ॥

किन्तु साम्प्रतं कौशिकस्य पिडकोवधः परिसान्त्वनीयः ॥

(पटाक्षेपः)

दृश्यं—स्थानं मार्गभूमिः
(कौशिको जमदग्निश्च)

कौशिकः हा शाम्बरि ! प्राणाधिके ! विमुक्तासि सकलेभ्यो दुःखेभ्यः

कृतार्था भरताश्चाद्य कृतार्थाश्चाद्य तृत्सवः ।
कृतार्था गुरवश्चाद्य शोकाब्धौ पातितोऽस्म्यहम् ॥ ७० ॥

जमदग्निः प्रियमातुल ! विपदि धीरत्वं निजं स्वाभाविकं गुणमवलम्बस्व । एतादृशे हि समये धैर्यस्यावश्यकत्वम् ।

कौशिकः (न शृणोतीव)
कथय कथय बन्धो शाम्बरी केन लूना ?

जमदग्निः नहि तव विदितं कि तत्कृतं भैरवेण ।

कौशिकः किमु स कृतकरूपो भैरवो वस्तुतो वा ?

जमदग्निः इह मृतकशरीरं पश्य तस्याऽधुनापि ॥ ७१ ॥

कौशिकः इह कथमुपयातो मारितः केन वाऽयम्

जमदग्निः तव कृतिरुचितेयं मारितो दुष्टदस्युः ।

कौशिकः कथय किमपराद्धं दस्युना तेन धीमन्

जमदग्निः स्मर निशि पथि लूना शाम्बरी ····

कौशिकः ....हा· हतोऽस्मि (मूर्छितः भवति) ॥ ७२ ॥

अगस्त्यः (प्रविश्य) (कमण्डलुजलेन परिपिञ्च्य कौशिकं चैतन्यं नयति)

वत्स कौशिक ! तवाद्य पूरिता
दुःखशोकपरिणामनाटिका ।
धैर्यमाचर तवास्ति जीवनम्
शाश्वतं शुचि सुखान्तरूपकम् ॥ ७३ ॥

कौशिकः ब्रह्मन् !

जायावियोगजनितां हृदयस्थपीडाम्
जानन्ति जातु भवतो भवतोपदो मे ।
क्वाहं नवीनयुवको वकवृत्तिचारी
क्व त्वं मुनिः सहनशीलतपोऽधिकारी ॥ ७४ ॥

न स्मरति किं भवान् तां रोहिणीमातुर्वियोगजनितां वेदनाम् ?

अगस्त्यः स्मरामि वत्स स्मरामि । किन्तु काले काले विस्मरामि च यतः—

गर्तं निखातमवनौ परिपूर्त्तिमेत्ति
वृक्षे पुरोहतिहृतिः परिलूनशाखे ।
हृन्मर्मणि क्रकचकर्त्तनवत्कराल-
स्तां वेदनां स्वयमुपाकुरुते हि कालः ॥ ७५ ॥

तद्वत्स ! सर्वथा धैर्यमेव कर्त्तव्यं विपदि ।

न कांक्षते स्म सा राज्यं न च ते महिषीपदम् ।
यत्साऽऽकांक्षत तद्दत्तं त्वया धर्मं विजानता ॥ ७६ ॥

इयं खलु कौशिकस्य प्रियसखी रोहिणी रुदती समायाति शोकविकला । जमदग्ने !
तावदावामितिकर्त्तव्यतां विचारयावः । (गच्छतः)

कौशिकः अहह ! रोहिणि रोहिणि ते सखी
सुतवती तव तीवति जीविते ।
अरिशता रिशता निहतारिणा
मम रणे मरणेऽस्य हृदि व्यथा ॥ ७७ ॥

रोहिणी तथापि भवता तस्या हन्ता तु निहतो रणे ।
तस्याः खल्वात्मनः शान्तिस्तेनाजायत तत्क्षणात् ॥ ७८ ॥
यावज्जीवं त्वया सापि महिषीव समादृता ।
न जातु जातिदोषादेश्चर्याऽप्याचरिता त्वया ॥ ७९ ॥

सर्वेच्छाः पूरितास्तस्याः प्रदत्तं गर्भदोहदम् ।
प्रसवे रक्षिताः प्राणा शान्तं तेनास्तु ते मनः ।। ८० ।।

कौशिकः मया तस्या हेतोरहह परिभूता स्वजननी
पराभूतः साक्षाद्गुरुरपि पिता ते पितृसमः ।
परित्यक्ताः सर्वे निजपरिजनाजीवनसमाः
वसिष्ठाद्याः सर्वे तृणमिव विमोहादवमताः ।। ८१ ।।

हा हा !

दाम्पत्यधर्मनिर्वाहे सर्वे धर्मा मयोज्झिताः ।
दाम्पत्यस्याप्यनित्यत्वं प्रकटीभूतमद्य मे ।। ८२ ।।

रोहिणी या या मया प्रियसखीति तदीयसेवा
स्नेहादकारि नहि सा विदिता पितुर्मे ।
सँवाद्य नास्ति भुवने हि कृतज्ञतायै
व्यर्थो ममाप्य विकलोऽपि परिश्रमोऽभूत् ।। ८३ ।।

कौशिकः नहि नहि ! अव्यर्थानि भवन्ति खलु पुण्यानि ।
कृतज्ञा सा मह्यं सुदति ! वदति स्म प्रतिनिशम्
तव श्लाघापूर्वं यदुपकृतमस्यै प्रतिदिनम् ।
ऋणं ते मच्छीर्षे गुरुभरमभूत्ते गुरुतरम्
मया तस्या हेतोस्तव च विहितो हा परिभवः ।। ८४ ।।

रोहिणी देव ! देव नैतत्कदापि कथनीयम् । ऋणत्वं नास्त्यैव मत्कर्मणः प्रत्यादानाभिलाषा मे नैवासीत्प्रेमसेवायाः । किन्तु

तस्यामेव तवापि मेऽपि सकलं प्रेमाभवत्केन्द्रितम्
तामेव त्वममन्यथाः प्रियसखीं मत्प्रेमपात्रं यतः ।
तस्या गर्भगतं तदैव विदितं तेजस्त्वदीयं मया
तस्याः प्रीणनतत्पराऽभवमहं सम्प्रार्थिनी दोहदम् ।। ८५ ।।

कियान्मितं कष्टमभूच्छिशोर्जनी
स्वयं जनन्या पृथगन्वभूयत ।
न दुःखमन्यत्खलु नाममात्रकं
तदीयभोग्यं परिशोषितं मया ।। ८६ ।।

अहो समान एवाऽभूत् त्रयाणामेवास्माकं प्रेमलीलासरोवरः सापत्न्यरहितः सखीभावसहितः ।

कौशिकः एवमेवासीत् । अस्ति चावयोस्तादृशो ह्यद्यापि प्रेमसम्बन्धः ।

यातेऽभूज्जननी प्रिया भगवती सा मह्यमम्बा समा
या खेला खलु ते मया विरचिता सैव त्वया खेलिता ।
आबाल्यादपि यन्मयाभिलषितं तत्ते बभूव प्रियम्
प्रायोऽभूत्तव सद्विनोदनपरं व्यापारवन्मे मनः ॥ ८७ ॥

रोहिणी अहो पुनर्जाग्रतीव मे तास्ता बाललीलास्मृतयः ।

श्वसुतयोर्मम पालितयोस्त्वया
लघुरथो रचितो मम नर्मणे ।
अहमभूवमियं तव रोहिणी
त्वमपि विश्वरथः श्वरथोऽभवः ॥ ८८ ॥

प्रतर्दनः (प्रविश्य) महाराज ! श्रीदिवोदासेन तृत्सुसेनयाऽस्माकं सर्वे मार्गा समवरोधिताः यतो युद्धं विना भरतपुरगमनमिदानीं नास्ति सम्भवम् । अतः परं भवान् प्रमाणम् ।

कौशिकः रोहिणि ! एवं भूतं तव मनोहरत्वं यत्वया सहानुभूत्यालापे विस्मारितोऽहं सर्वं दुःखमपि कर्त्तव्यमपि ।

रोहिणी तदा पृच्छे सम्प्रति गमनार्थम् । मामदृष्ट्वा विक्लवाः स्युस्तातपादाः ।

कौशिकः गच्छ तावत् । पुनर्दर्शनमस्तु ।

प्रतर्दनः देव ! दस्युदहननिरोधाय दिवोदासस्तृत्सुसेनया मार्गावरोधं करोति । युद्धं विना भरतपुरगमनमसम्भवम् ।

कौशिकः अतः परं स्वतन्त्राः स्युः सर्वे दस्युवन्दिनः । आर्यभूतास्ते सर्वेऽप्यार्यगतिमेवाङ्गीकरिष्यन्ति । ऋक्ष ! आहूयताम् ।

प्रतर्दनः (ऋक्षाह्वनाय गच्छति । तमानयति)

ऋक्षः देव ! मया सर्वे वन्दिनो दस्यवोऽद्य व्याख्यानैः प्रोत्साहिताः तृत्सूनां कृष्णक्षेत्रकारागारात् स्वतन्त्रीकृताः । आर्यभूतास्ते नगरमायाताः ।

कौशिकः ऋक्षाचार्य ! दिवोदासस्य सैनिका स्थाणुकल्यास्तब्धाः स्थास्यन्ति दिव्यास्त्रप्रभावात् । शाम्बर्याः संस्कारानन्तरं सर्वे निर्विघ्नं भरतपुरं यास्यामो वयम् । त्वर्यताम् ! एष दिव्यास्त्रं प्रयोजयामि ।

(ध्यायति) भो भो दिव्यास्त्राणि !

कृशाश्वतनया यूयं तत्कृपातो मयार्जिताः ।
जडीभावं प्रयान्त्वद्य दिवोदासस्य सैनिकाः ॥ ८९ ॥

ऋक्षः साधु ! साधु ! कौशिक ! साधु ! यत एते—

आकाशादिव नीलपीतहरिताः रक्ताः पिशङ्गाःसिताः
वैदूर्याः कपिलाः कडारहरिणा कृष्णारुणाः धूमलाः ।
श्यावालोहितपाटलादिविविधा विद्युच्छटामण्डिताः
प्रादुर्भावमितः स्वकर्मनिरतास्त्वाज्ञाकरा जृम्भकाः ॥ ९० ॥

भटाश्च धृतकङ्कटा समवरुध्य मार्गस्थिताः
क्षणेन विगतक्रिया लिखितचित्रतुल्या बभौ ।
समाप्य सकला क्रिया सकलदस्युलोकः समम्
स्वतन्त्र इव मित्रतां व्रजति सार्यभावैर्जनैः ॥ ९१ ॥

(नेपथ्ये)

लेलायमानरसनाभिरधूमधूम -
केतुर्नियुध्य विवधैः कुलजैरघौघैः ।
भस्मीचकार शबरी शवर्माचिरादि
मार्गेण दिव्यवयुनं नयते सदार्याम् ॥ ९२ ॥

कौशिकः भो भो ! आर्यभूताः श्यामलाः मङ्गलं वोऽस्तु सर्वेषाम् ।
यथेच्छं निजगेहेषु रमध्वं निजबन्धुभिः ।
वयन्तु भरतग्रामं यामो मैत्रं विधाय वः ॥ ९३ ॥

लोपामुद्रा चागस्त्यश्च (प्रविश्य)

आश्चर्यं प्रणयाख्यया रशनया बद्ध्वा चिरान्निर्व्यथम्
स्वातन्त्र्येण समन्विताश्च सकला दासीकृता दस्यवः ।
मैत्रीमात्रगुणेन सङ्कटमये काले त्वया सन्दिताः
सर्वे तृत्सुपुरोगमा नृपतयः शस्त्रप्रयोगं विना ॥ ९४ ॥

अगस्त्यः एतत्सर्वं स्वकीयेन तेजसैव त्वया कृतम् ।
आवां च ब्रूहि किं कुर्मस्तव प्रीत्यर्थमञ्जसा ॥ ९५ ॥

कौशिकः सर्वं खलु भवतोरेव कृपयाऽविकलया सम्पन्नम् । अथ पुनर्मङ्गलमस्तु सर्वत्र शान्तिरस्तु ।

अगस्त्यः अस्तु मङ्गलम् । अस्तु शान्तिः । अस्तु स्वस्ति ।
यथापूर्वं देशो भवतु तव सम्पन्नविभवो
यथापूर्वं देवा विदधतु कृपां पण्डितजने ।
यथापूर्वं गेहे भवतु तव शान्तिश्च हृदये
यथापूर्वं प्राज्यं भवतु तव राज्यं वरतरम् ॥ ९६ ॥

लोपामुद्रा तथास्तु—

यथापूर्वं प्रज्ञा श्रयतु च रसज्ञां सुवचसा
यथापूर्वं घोषा सुतजननतोषामुदमियात्
यथापूर्वं पद्माकरकमलसद्मा विलसतु ।
यथापूर्वं वामाहृदयमभिरामा रमयतु ॥ ६७ ॥

निष्क्रान्ताः सर्वे

इति श्रीविद्याभूषणश्रीकृष्णशुक्लज्योतिर्विद्कविसुधांशुरचिते
कृतार्थकौशिके पञ्चमोऽङ्कः सम्पूर्णः ।
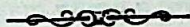
अथ षष्टोऽङ्कः

स्थानं विश्वामित्रस्य राजभवनम् ।

कौशिकः (स्वगतम्)

भरतपुरमहं समागतोऽस्मि
निजगुरुवर्यपुरोहितं विहाय ।
उदयगिरिमुपागतोऽपि भानु-
र्विगतकरो भवति प्रतापहीनः ॥ १ ॥

श्रीभगवत्या घोषादेव्या आज्ञया सर्वप्रथमं श्रीलोपामुद्रासहितं भगवन्तमगस्त्यं निमन्त्रयामि । श्रीरोहिणी तु श्रीभगवतागस्त्येन साकमवश्यमायातु । यावद् भगवतो मैत्रावरुणस्य चरणौ न स्पृशामि तावद्देवो मां न सभाजयति । भो प्रतर्दन !

प्रतर्दनः देव । आज्ञापय

कौशिकः श्रीभगवन्तमगस्त्यं गत्वा चरणस्पर्शपूर्वकं तं सपत्नीकं सरोहिणीकं अस्मिन्निमन्त्रणं ब्रूहि । यावदगस्त्याभ्युदयं स्थगिता स्युरस्माकं महोत्सवः तावत्कालपर्यन्तं बहिरुपस्थितान्नगरिकानपि निवर्तयस्व ।

प्रतर्दनः देव ! सम्प्रति नागरिकलोकाः श्रद्धापात्रसमागताः । केवलं श्रीमहाराजस्य दर्शनं वाञ्छन्ति नान्यत्

कौशिकः अस्तु । अहं यावन्नागरिकान् सम्भावयामि तावत्त्वं शीघ्रं मामन्यत्र श्रीभगवन्तं मैत्रावरुणं श्रीभगवतीं लोपामुद्राञ्च श्रीरोहिणीञ्च ।

प्रतर्दनः यथाज्ञापयति देवः ।

कौशिकः सभाभवने सर्वान्नागरिकमुख्यान् स्वागतेन सम्भावयामि (सभायां गत्वा तथा करोति)

नागरिकाः जयतु जयतु युवराजः कौशिकः । जयतु जयतु गाधेयः । जयतु जयतु घोषेयः । जयतु महर्षिशिष्यो राजर्षिविश्वामित्रः ।

नागरिकाः देव कौशिक !

मृतमुज्जीवयस्येवं यशस्ते लोकविश्रुतम् ।
प्रोज्जीविता स्म प्रत्यक्षं मृता नागरिकाश्चिरात् ॥ २ ॥

तस्माद्वयं करिष्यामो राजधान्यां महोत्सवम्।
तव स्वागतमात्रेण स्वागताः पुरदेवताः ॥ ३ ॥

विधिपूर्वं च यक्ष्यामो मित्रं वरुणमेव च।
तस्मादाज्ञां कुरुष्वाद्य समयं च निवेदय ॥ ४ ॥

कौशिकः भो नागरिकाः। किञ्चिन्मात्रेण धैर्येण तत्सर्वं भवतु

यावद्गृहं नहि गुरोश्चरणारविन्द-
प्रक्षालनोद्भवजलेन पवित्रयामि।
तावद्भविष्यति न कोऽपि महोत्सवोऽस्मिन्
त्यक्ते चिरादतिथिभिर्द्विजदेवताभिः ॥ ५ ॥

नागरिकाः श्रीमद्गुरोर्भगवतोऽमृतकुम्भयोने-
रस्मिन् महीयसि पुरे भवति प्रवेशः।
तस्यागमो ह्यवसरः प्रथमोत्सवस्य
तत्स्वागताय सकला भरता मिलन्तु ॥ ६ ॥

अगस्त्यः (प्रविश्य) जयतु जयतु देवः। क्षम्यतां मदागमने विलम्बः

कौशिकः विलम्बोऽपि भवतां सकारणो भवितुमर्हति।

अगस्त्यः एवमेतत्।

भगवान् श्रीवसिष्ठो यस्नृत्सुराजपुरोहितः।
अवतारोऽपि धर्मस्य कुत्रचित् स तिरोहितः ॥ ७ ॥

न लब्धा पदवी तस्य ज्यौतिपेणापि मार्गणात्।
सरस्वत्यां निमग्नोऽसौ पारम्प्राप्तो भवेन्नवा ॥ ८ ॥

कन्या काली सुतः शक्तिरपत्यद्वयदायिनी।
निर्दयारुन्धती पूर्वं महर्षिस्तपसे गता ॥ ९ ॥

तावनाथौ मया सार्द्धमित आयातुमिच्छुकौ।
निर्दयेन सुदासेन भूयो भूयो निवारितौ ॥ १० ॥

दिवोदासमथापृच्छ्य रोहिणी सहितो ह्यहम्।
सपत्नीकः समागच्छं विलम्बोऽयमभूत्ततः ॥ ११ ॥

नागरिकाः जयतु महात्मा गाधिसूनुः। जयतु भगवानगस्त्यः।

ऋक्षः अयमहमपि दस्युशिष्ययुक्तः
कुलपतिरेव सहस्त्रैकः समेतः।
भरतनगरमेमि तृत्सुवंश्यो
ज्वलनशिखानिहते तृत्सुलोके ॥ १२ ॥

भो नागरिकाः ! जयतु महर्षि ऋक्ष इत्यपि वदत।

नागरिकाः (सोपहासम्) जयतु जयतु महर्षि ऋक्षः। (हसन्तो निर्गताः)

कौशिकः अहह दस्युजनो गतनायकः स्वजनवत्स्वयमेव समागतः।
तदपि दास्यमभीप्स्यनिबन्धनं कृतमितः परमीदृशपारणम् ॥ १३ ॥

अगस्त्यः युद्धक्षेत्रेषु भग्नाङ्गाः सेवन्ते कन्यकाजनैः।
जीविता नरकन्याभिर्मृताः सुरवधूजनैः ॥ १४ ॥

अद्य सायं सन्ध्याकालश्च वार्तास्वेव प्रायः समुल्लङ्घितः। ततः साम्प्रतमापृच्छेऽहम्।

कौशिकः भवतु यथेच्छम्। प्रणतयः सन्तु। प्रभाते पुनर्दर्शनमस्तु।

रोहिणी (स्वयं प्रविश्य) कौशिक ! देव ! भवदाज्ञयाहं भग्नदस्यूनां व्रणवन्धनं औषधिलेपनं च कृतवती। सम्प्रति गच्छामि।

कौशिकः भद्रे ! अन्योऽपि कश्चिद्भग्नहृदयस्तवोपचारं कामयते। तमपि जनं तावात्सम्भावय।

रोहिणी यथाज्ञापयति देवः। कोऽसौ क्वासौ भग्नहृदय ?

कौशिकः (सस्मितमात्मनो हृदयं संसूच्य)

उद्घाटयामि हृदयं कथमात्मनोऽहम्
जानासि किं न दमितां मनसोऽभिलाषाम्।
दारैर्विदारितहृदः परिषीवणाय
स्वोदारभाववशगा भज दारभावम् ॥ १५ ॥

रोहिणी (सलज्जमितस्ततः पश्यति करौ संयोज्य)

भर्ता भवान् परिजनस्य चिरन्तनस्य
कोऽर्थो निषेधकरणेऽस्य शुभोदितस्य।
तातस्य चाप्यनुमतिर्यदपेक्षतेऽत्र
तत्रापि सम्प्रति भवान् भवतु प्रमाणम् ॥ १६ ॥

त्वं कान्तः कमितावरो वरयिता पाता पतिः प्राणना-
स्प्राणेशो रुचिरोऽसि चेद्रुचिकरः कस्त्वां निषेद्धुं क्षमः ।
आवाल्याद्वयया तवास्मि दयिता भीरुः स्वभावादहम्
भूयिष्टं परिलालनाच्च ललनासङ्गाद्द्वितीयाऽस्मि ते ॥ १७ ॥

कौशिकः उज्जीवयस्यमरकिन्नरकण्ठिदूरात्
दिव्यं वचस्तव रहस्यपि कर्णयामि ।
व्यक्तं वहत्युपवनेषु वनेषु चायम्
पुष्पोपमाङ्गि नवयौवनगन्धिवायुः ॥ १८ ॥

रोहिणी दूरात्प्रशंसति परः स्फुटितारविन्दम्
आमोदमाप्य परितृप्यति वातनीतम् ।
भिन्नक्रमो भवति वास्तविको रसज्ञो
विस्रम्भतः स्वयमुपेत्य भजत्यलीन्द्रः ॥ १९ ॥

कौशिकः देवि रोहिणि ! निर्मलं नभोमण्डलं सुरभितमन्तरिक्षम् ।

रोहिणी सत्यम् ! यथा श्रीमहाराजोदारहृदयं यथा श्रीमतो यशः ।

कौशिकः परिणतः परिपक्वश्च शरदृतुकालः ।

रोहिणी यथा महाराजस्य परिजने प्रेमजालः ।

कौशिकः व्यतीतं खलु सन्ध्याकालद्वैविध्यम् । निशामुखचन्द्रः त्रपानतः स्वरुचिरं विम्ब-मुन्नमयति ।

रोहिणी यथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो द्विजराजः । समाप्तसन्ध्या वन्दनास्तातपादाः मां सम्प्रति प्रतीक्षन्ते । अतः आपृच्छे गमनाय ।

कौशिकः क्षणमात्रमिदं च पश्य गगनमण्डले ।
कृत्तिकाभिर्निकृत्तोऽपि पूर्णश्चन्द्रो नभस्तले ।
तं भुनक्ति च भुंक्ते च रोहिणी रोहिणीप्रियम् ॥ २० ॥

रोहिणी तुल्या भगवतो लीला यथाकाशे तथा भुवि ।
पश्याम्यनुभविष्यामि कः प्रत्याख्याति भावुकम् ॥ २१ ॥

सदैव देववचनमासीन्मे मनसः प्रियम् ।
साम्प्रतं तु प्रियतमं सत्यं प्रियतमो भवान् ॥ २२ ॥

(दूरादेव करयुगलं संयोज्य प्रणम्य गच्छति) अये श्रीभगवन् अथर्वण ! महात्मन् प्रणमामि ।

अथर्वणः सफलमनोरथा भव । शतञ्च सौभाग्यवती जीव ! रोहिणि !

कौशिकः भगवन् ! प्रणमामि ।

अथर्वणः वसुधेश ! अनन्ता खलु ते कीर्तिर्जगत्या व्यापिनी भवेत् ।

कौशिकः भगवन् !

एकचक्रो रथो मह्यं दत्ते तपसि योग्यताम् ।
तस्माद् यास्यामि गोमन्तपर्वते तपसे नमः ॥ २३ ॥

अथर्वणः उपपन्नमिदम् । तपश्चरन्ति देवानां पितृणां च प्रिया जनाः ।

यद्दुष्करं यद्दुरापं यद्दूरं यच्च दुर्गमम् ।
यच्च दुश्चिन्तनीयं स्यात्तपसा तच्च साध्यते ॥ २४ ॥

किन्तु केन महतोद्देश्येन भवांस्तपश्चरितुमिच्छति ?

कौशिकः भगवन् !

कदाचित्साम्राज्यं व्रजति मनसोऽभीप्सितपदम्
कदाचिद्वै राज्यं तृणमिव जगद्वस्तु कुरुते ।
न जाने सा दोलाचलहृदयवृत्तिः कथमिथम्
प्रवृत्तौ कल्याणं परमुत निवृत्तौ न कलये ॥ २५ ॥

शाम्बरी शोकसंविग्नं भृशमान्दोलितं मनः ।
कियतैकान्तवासेन स्वयं स्थैर्यमुपैष्यति ॥ २६ ॥

अथर्वणः यदि समाधिहिताय यतिष्यते नृपतिना भवता विजने वने ।
तदपि तेऽप्यचिरागमनेच्छुका अविकला विकला भवति प्रजा ॥ २७ ॥

प्रबन्धं तु करिष्यामि येन ते प्रियकारिणः ।
कियद्दूरात्सहायाः स्युर्नान्तिकाद् विघ्नकारिणः ॥ २८ ॥

(महाराजः कौशिको निष्क्रान्तः)

अगस्त्यः (प्रविश्य) अथर्वण ! प्रणमामि शिरसा । अपि कुशली भवान् ? अपि कुशलं महाराजस्य ? अपि स्वस्थं च तच्चेतः ?

अथर्वणः कुशलमेव सर्वथा भवदाशिषा । सम्प्रत्येव गतो महाराजः कौशिको गोमन्तपर्वतं प्रति तपस्यायै । विजने वने समाधिसाधनाय । प्रायः सप्ताहेन पुनः समेष्यति ।

अगस्त्यः स्वतन्त्राः खलु राजानः । किन्तु कदाचिद्राजर्षिब्रह्मर्षित्वमिच्छन् सम्प्रत्येव राजभारं परित्यजेत् इति मम मनसि सन्देह इव भवति ॥

अथर्वणः　नास्त्यद्यापि तादृशः परिपक्वचेतः कषायो महाराजः । अत एव तं देवाश्च पितरश्च परिजनानां स्मृतयश्च बलादाकृष्य भूयोऽपि राजहेतोरानेष्यन्ति । अतस्तस्मै समग्रराज्यभारं समर्प्य स्वयमहं पुनरपि सपरिवारे निर्गन्तुमिच्छामि । केवलं तस्य प्रतिष्ठापनाय मनोनुकूलः स्यात्परिणयः ।

अगस्त्यः　अहो विस्तीर्णमेवास्ति क्षेत्रं तदर्थं श्रीमहाराजस्य । समानमानाश्च तस्य खलु मानुषाश्च देवाश्चासुराश्च । न जाने कस्याः भाग्यं तेन सह सम्बद्धः स्यात् ।

अथर्वणः　भवतां दुहिता रोहिणी च विवाहयोग्यैव वर्तते ।

अगस्त्यः　यथा भवते रोचते । श्रीवसिष्ठानुरोधात् सुदासार्थं सा तदानीं निश्चिता । किन्तु स कौशिकद्वेषेण तददं निश्चितां पुरुकुत्सदुहितरमुपयेमे । इयं रोहिणी विप्रकन्येति नहि ननार्थे । रोहिणीमिच्छन्नपि च कौशिकोऽयं श्रीवसिष्ठेनान्यत्र शाम्बरी मायाजाले निपातितः । ततो विमुक्तः सोऽद्य गृहस्थादेव विरक्तः ।

अथर्वणः　नहि नहि । नेदानीं स विरक्तो न च देवास्तद्वैराग्यं इच्छन्ति । स खलु तीर्थाच्छीघ्रमेव निवृत्तो राज्यशासनं करिष्यति । स विवाहं विवास्यति तथा शत्रुनिग्रहं करिष्यति ।

अगस्त्यः　शत्रुनिग्रहस्तु कृत एव । क पुनस्तस्य नूतनाः परिपन्थिनः ।

अथर्वणः　अहो वहवस्ते । सम्मिलिताः सम्प्रति सुदासेन सह राजपुत्राः माहिष्मतीशो हैहयः कार्त्तवीर्यश्च सोमकराजपुत्रो वीतहव्यश्च सम्प्रति सुदासस्य सहायकौ । तेषामुद्दण्डानां निरोधाय सम्प्रति जार्गत्ति सेनानी भद्राक्षः पतर्दनश्च तदर्थं सज्जितः शत्रुनिवारणाय कटिवद्धः । किन्तु शान्तस्य श्रीगान्धिमहात्मनो नासीद्युद्धनीतिः

अगस्त्यः　माहिष्मतीशः खलु वृद्धः कृतवीर्यो मामेव पौरोहित्याय निमन्त्रयति । रोहिणीविवाहानन्तरमेवाहं गमिष्यामि तत्र दक्षिणां दिशम् । न च पुनरेष्यामि ।

अथर्वणः　आयातो हि सरस्वतीमहं त्यक्त्वैव माहिष्मतीम्
जानाम्यस्य मनः स्वभावमथ दुर्दोषास्तथा सद्गुणान् ।
श्रीमद्धैहयवीतहव्यसहिता　ये　तालजङ्घादयः
तेऽनम्या हि तथापि संस्कृतिबलादार्या न युद्ध्याः स्वतः ॥२६॥

अगस्त्यः　अपि तर्हि नास्ति युद्धावसरः ? अपि ते शान्त्या स्थास्यन्ति ?

अथर्वणः　इदानीन्तु राजानमनुपस्थितं योगार्थं निर्गतं ज्ञात्वा तेऽतिशीघ्रमेवाक्रमणं कुर्युः । ततो विना विलम्वमहं च महाराजस्य शीघ्रमेव निवर्तनायार्यमृक्षं तत्र गोमन्तपर्वतं प्रति प्रेषयामि ।

अगस्त्यः अहमपि श्रीभगवतीलोपामुद्राञ्च रोहिणीञ्च प्रेषयामि श्रीगोमन्तपर्वते कौशिकी-तीर्थयात्रायै। अहं स्वयमेव गत्वा च समानयामि ज्येष्ठभ्रातरं श्रीवसिष्ठं महर्षिञ्च (इति प्रणम्य गच्छति)

(नेपथ्ये) हैहयो वीतहव्यश्च सुदासश्च परस्परम्।
मिलिता भरताञ्जेतुं तिक्तुवन्तिं गतत्रयाः ॥ ३० ॥

(भद्राक्षप्रतर्दनौ प्रविश्य)

भद्राक्षः यावच्चन्द्रदिवाकरौ शुभकरौ रात्रिन्दिवं शोभतो
यावद्धोमधनञ्जयो हुतहविर्गृह्णाति मन्त्रोक्षितम्।
यावद्देशहिताय भारतजना जीवार्पणं कुर्वते
तावच्छत्रुरिमां पवित्रधरणीमुद्धर्षितुं न क्षमः ॥ ३१ ॥

प्रतर्दनः गाधेः शान्तिरहिंसया जयवती याता समं गाधिनः
गाधेयस्य च विश्वमित्रकरणी नीतिर्न मे शिक्षिता।
वृक्षेभ्यः फलवत्किरन्तु धरणौ शीर्षाण्यरीणां पुरः
प्राप्तोऽद्यावसरो स्वधनुषः सम्यक् प्रयोगक्षमः ॥ ३२ ॥

(ससेनं सयुद्धवाद्यं गच्छतः)

ऋक्षः भगवन्नथर्वण ! आनीतो मया कौशिकः।

अथर्वणः कियद्दूरमस्ति सः ?

ऋक्षः अहन्तु तं गोमन्तपर्वते समाधिमग्नं निध्यानपरायणं जड़ीभूतमद्राक्षम्। तत्पार्श्वगौ च तत्समाधिभेदनोद्यतां काम्प्यप्सरसां वराञ्चाद्राक्षम्। मां विलोक्य ता खल्वप्सरसां वरा स्वयमपसृत्यान्तर्हिता बभूव।

अथर्वणः ततस्ततः।

ऋक्षः ततोऽहमुच्चै रोदनमकरवम्। हा नाशिता नाशिता भद्राक्षेण सर्वे तृत्सव इति तच्छ्रुत्वा सा शनकैः व्युत्थितोऽब्रवीत्। अहं मनुमद्राक्षं अहं ययातिमद्राक्ष-महं स्वतातं गाधिमद्राक्षम्। सर्वे हि मां पुनर्गत्वा संसारहितमाचरेति कथयन्ति।

अथर्वणः ततस्ततः

ऋक्षः ततः स पूर्वेषामाज्ञया पुनरहं संसारे गमिष्यामि इति संसारहितमेव करिष्यामि इति निश्चयं प्रोवाच। अपि सम्मानिता पार्श्वस्था अप्सरसो देव्यः ? इति प्रश्ने स उवाच शान्तं पापं शान्तं पापम्। नह्येता अप्सरसः। इमौ तु श्रीलोपामुद्रा च रोहिणी चेति।

अथर्वण: ततस्ततः

ऋक्ष: ततः स लोपामुद्राश्रावितं श्रीघोषादेव्या सविस्तरं सन्देशं तथा स्वयं लोपामुद्रायाः सानुरोधं वचनं श्रीरोहिण्याश्चानुमोदनं शान्तमशृणोत् । किन्तु युद्धे तु तृत्सवो भद्राक्षेण निहन्यन्ते मद्बान्धवाः प्रतर्दनेन निहन्यन्ते इति मया श्रावितः स तूर्णं समुत्थितः । श्रीभगवत्या लोपामुद्रया च श्रीरोहिण्या च सह समायाति शनैः शनैः समरक्षेत्रमार्गेण । स दूरमेवास्ति किन्तु भद्राक्षादयश्चेत एव आयान्ति ।

भद्राक्ष: (प्रविश्य) अहो मया निगृहीते सुदासे तु वीतहव्येन च हैहयेन च सरोषं कर्दथिताऽस्मत्सेना व्यूहभङ्गं विधाय पलायते । हा धिक् ।

रोहिणी भगवन् कौशिक ! परित्राहि परित्राहि । इमे भद्राक्षमपि प्रतर्दनमपि विजित्य शत्रुसेनाभटा अनुद्रवन्ति सायुधा अस्माकं सैन्यस्य पलायमानस्य सम्प्रहाराय ।

कौशिक: मा भैषीर्भीरो ! पश्यामुं जृम्भास्त्रकौतुकम् ।

लोपामुद्रा अहो आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

विद्युच्छटाच्छुरितनीलपिङ्गरक्ता
स्वर्गादिमेऽवतरिता स्फुरदिन्दुभासः ।
दिव्यास्त्ररूपसहिताः सहिताः सदेवाः
स्तभ्नन्ति शत्रुदलमत्र विचित्रमेतत् ॥ ३३ ॥

रोहिणी अहो भीतास्मि ।

क्षणं कोटिसूर्याः समुद्यन्ति भूयः
क्षणं घोरघोरान्धकारो धरण्याम् ।
न च ज्योतिषा चाकचिक्ये तमिस्रे
न भीमान्धकारेऽपि पश्यामि किञ्चित् ॥ ३४ ॥

(इति कौशिकं समाश्लिष्यति स्म)

कौशिक: अहो अत्यन्तमियं प्रभीता खलु भीरुः । किन्त्वहो !

समाधावानन्दोऽप्यनुभवमितो वहुतिथम्
तथा मे नैवासीदयमिह यथा मे स विषयः ।
जयो मे जृम्भास्त्रैः सदयमरिसैन्यस्य न तथा
यथाऽयं मुग्धाक्ष्याः समयपरिरम्भोऽस्ति सुखदः ॥ ३५ ॥

लोपामुद्रा सुमूहूर्त्तमस्तु सुमूहूर्त्तमस्तु ते।

परीरम्भारम्भश्चिरमिह सलीलं भवतु ते
तदानन्दो यस्तेऽप्यविषयसमाधौ स च भवेत्।
अये विश्वामित्र त्वमिह भव राजर्षिरनयो-
र्महर्षीणां मध्मे त्वमिह परमर्षिश्च भवतात्॥ ३६॥

ऋक्षः (प्रविश्य) तथास्तु तथास्तु सेनाया प्रतिनिवर्तनं यथा सबाधं विजयघोषणं प्रतीयेत।

भद्राक्षः प्रतर्दन! विजयवाद्यमारम्यताम्। समस्ता सम्प्रति महाराजमनुगमिष्यति। श्रीसुदासस्तु निबद्ध एव। हैहयश्च वीतहव्यश्च परिवृत्तौ गृहीतौ च। सर्वा च शत्रुसेना विजिता ह्यस्माकं सेनया परिवृता निगृहीता चलिष्यति। सर्वे ते खल्वस्माकं बन्दिनः।

कौशिकः श्रीसुदासश्च वीतहव्यश्च हैहयः मया सार्द्धं स्वतन्त्रा इव मित्रसमा सहाया इव चलिष्यन्ति सेना च तेषां मित्रभूता इव सहचरी भवतु।

भद्राक्षः अहो विश्वामित्रत्वं! अस्तु तथा। किन्तु महाराजस्य सर्वथा रक्षाप्रबन्धं निश्चित्य तत्तत्सर्वं करिष्यते। सर्वे च ते सुदासादयो नाममात्रे दृष्टिबन्धने सादरमेव नगरीं नेष्यन्ते। तत्र तैः सह श्रीमहाराजो यथारुचि व्यवहरिष्यति (शङ्खध्वनि-र्वाद्यानि च)

ऋक्षः देव! श्रीभगवान् आथर्वणः सह नागरिकैः स्वागताय नगरद्वाराद्बहिरेवात्र भवन्तं प्रतीक्षते। नगरी च महोत्सवार्थं ध्वजपताकातोरणादिभिर्मण्डिताः।

कौशिकः उचितः प्रबन्धः।

ऋक्षः अथ च—

अट्टालिका सून्नतमन्दिराणां
नार्यः स्थिताः साक्षतपुष्पहस्ताः।
त्रिकोटयः सन्निकटस्थदीपाः
आकाशगङ्गामपि लज्जयन्ति॥ ३७॥

ममापि शिष्यकाणामियं महती सेनास्ति। किन्तु साऽभितोऽग्रतोऽत्र गच्छति तदा तावतीनां प्रक्षिप्तैः लाजाक्षतैस्ताडिता भविष्यन्ति। अत एवाहमेकलः खल्वग्रतो गमिष्यामि मम श्यामलसेना तु सर्वेषां पृष्टतः।

कौशिकः तथास्तु अपि कुशली श्रीभगवानगस्त्योपि?

ऋक्षः श्रीभगवानगस्त्योऽपि स्वकार्यसिद्धिविधाय प्रतिनिवृत्तः।

कौशिकः   कुतः प्रतिनिवृत्तः ।

ऋक्षः   यथा स श्रीलोपामुद्राया पाणिं रहस्यगृह्णात् तथा हि लुप्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्य च प्रेम्णा पाणिमगृह्णात् । अद्य रात्रिशेषे वसिष्ठारुन्धत्योः सान्निध्ये श्रीलोपामुद्रा-गस्त्योश्च चतुर्थीकर्माप्यगस्त्याश्रमे भविष्यति ।

कौशिकः   प्रियं नः प्रियं नः ।

ऋक्षः   श्रीभगवतोरगस्त्याथर्वणयोर्मध्ये काचिदन्यापि गुप्तरूपा मन्त्रणा वर्त्तते । तस्यापि पूर्तिरद्यैव रात्रौ ताभ्यां निश्चिता । सा मन्त्रणा तु ममानुमानात्परतः । किन्तु परमा हि श्रेयस्करी भविष्यति ।

कौशिकः   अस्तु, देवाः श्रेयो विधास्यन्ति ।

ऋक्षः   इमे राजमार्गस्योभयतः स्थिता नागरिका जयध्वनिं कुर्वन्ति । असौ नगरतोरणः । तास्वट्टालिकासु तावत्योऽसङ्ख्या चन्द्रमुख्यः ।

कौशिकः   अहो प्राप्ता वयं स्वनगरेऽपि स्वराजमन्दिरे इमेऽगस्त्यारून्धतीवसिष्ठाथर्वणादयो महर्षयः सर्वेऽत्र सङ्गत्य समुपस्थिताः साशीर्मङ्गलपाणयः । इयं च पूज्यपादा जननी श्रीघोषादेवी चास्मान् निजाशिषा सभाजयति । अथ तान् सर्वनिवाहं युगपदेव प्रणमामि मनसा वाचा कर्मणा च ।

(उच्चैः) भो भो पूज्यतमाः । एष मे घौषेयस्य कौशिकस्य सर्वेभ्योऽपि गुरुजनेभ्यः पूज्येभ्यः प्रणामपर्यायः । अपि च सर्वेभ्यो नागरिकेभ्यश्च यथायोग्यमभिवन्दनम् ।

सर्वे   जयतु जयतु श्रीमहाराजः । जयतु जयतु श्रीविश्वमित्रः । सच्छत्रचामरे सिंहासने कौशिकः पार्श्वतः सभासदः ।

कौशिकः   अहोऽनिर्वचनीयः कोऽप्ययं प्रजानां मिलने ममानन्दः ।

वनेऽप्यानन्दानां कथमपि न मे तृप्तिरभवत्
ततोऽप्युच्चानन्दोऽभवदतुलनीयो गुरुकुले ।
यदाहं सम्प्राप्तः पुनरपि निजं गेहमनघम्
तदानन्दानां मे हृदि समुदितः सिन्धुरधुना ॥ ३८ ॥

किन्तु श्रीसुदासादीनामिदं पृष्ठचरत्वं च नाममात्रेण दृष्टिबन्धनमिव मे प्रतिभाति । तदेव प्रबलवेलेव ममानन्दजलधिं वृद्धिप्रसारे समवरुणद्धि । तस्मात्

सुदासो वीतहव्यश्च हैहयश्च नृपात्मजाः ।
स्वतन्त्राः पूर्णतः सन्तु तन्मैत्रं ह्यर्थ्यते मया ॥ ३९ ॥

शान्तिनीतिर्यथा गाधेस्तथा मे विश्वमित्रता ।
सुरासुरमनुष्या स्यु समाना मयि राजनि ॥ ४० ॥

(स्वतन्त्रवत्तेभ्यः सभायां महाराजानामुचितं आदरस्थानं दीयते)

सुदासः महाराज विश्वमित्र !

शास्त्रेषु त्वमसीन्द्रवत् नयवले न त्वादृशो भूतले
सौजन्ये तु वलं तवाधिकतरं सर्वत्र ते मित्रता ।
शान्तिस्ते यदि राजनीतिरधुनाऽस्माभिः प्रतिज्ञायते
त्वन्मैत्रीमधिगत्य नः कुसुमतोर्भूयाद्भविष्ये फलम् ॥ ४१ ॥

वीतहव्यः श्रीगाधेर्विश्वमित्रत्वं स्वीकृतमादृशैर्यतः ।
तस्यैव विश्वमित्राख्या नीतिः पाल्या तु मादृशाम् ॥ ४२ ॥

लोपामुद्रा धन्योऽसि श्रीकौशिक !

एकस्य चन्दनस्येव प्रभावस्ते प्रवर्त्तते ।
तवाग्रे चन्दनायन्ते शाखिनः कण्टकान्विताः ॥ ४३ ॥

कौशिकः देवि ! सर्वस्त्वदीयोऽयमाशिषां प्रभावः ।

वसिष्ठः एकचक्रस्य राज्यस्य प्रतिष्ठात्यन्तदुष्करा ।
कौशिकस्य विवाहस्य सम्प्राप्तोऽवसरोऽधुना ॥ ४४ ॥

मम भ्रातुस्तनूजेयं सेवार्थं तस्य रोहिणी ।
मयागस्त्येन चाज्ञप्ता तस्यार्धाङ्गवुभूषतु ॥ ४५ ॥

तस्मादस्मिन्सभामध्ये यदि राजानुमोदते ।
गृह्णीयाद्रोहिणीपाणिं सा राज्यमहिषी भवेत् ॥ ४६ ॥

एष खलु मम प्रस्तावः ।

भारद्वाजः प्रस्तावं श्रीवसिष्ठस्य को हृदा नानुमोदयेत् ।
दीर्घकालान्ममेच्छेयं स्वेच्छया पूरयेन्नृपः ॥ ४७ ॥

अरुन्धती लोपामुद्रा च आवां वसिष्ठप्रस्तावं प्रियं मन्यावहे शुभम् ।
स्वीकरोतु महाराजो रोहिणीं स्वपतिंवराम् ॥ ४८ ॥

कौशिकः तथास्तु ।

(श्रीरोहिणी सलज्जा चारुन्धती लोपामुद्राभ्यां नीता श्रीमहाराजस्य कण्ठे पुष्पमालां परिधापयति । कौशिकस्तस्याः पाणिं गृह्णाति । शङ्खध्वनिः घण्टाध्वनिः । समुहूर्त्तमस्तु सुमुहूर्त्तमस्तु इति ध्वनिः)

सर्वे सभासदः जयतु महाराजः जयतु राजमहिषी ।

कौशिकः　देवानां च ऋषीणाञ्च महर्षीणाञ्च सन्निधौ ।
पाणिं गृह्णामि रोहिण्याः सा भवेन्महिषी मम ॥ ४९ ॥

सर्वे　जयतां जयतां रोहिणीविश्वमित्रौ ।

(समङ्गलं स्वस्तिवाचनं गीतवाद्यपुरस्सरं रोहिणी राजसिंहासनेऽरुन्धत्या च श्रीराजमात्रा घोषया च निवेश्यते)

अरुन्धतीवसिष्ठौ　(शुभाशिषं वदतः) ।

(लोपामुद्रागस्त्यौ साश्रुनेत्रौ)

जगति सुखसमृद्धिर्वर्द्धतामार्यधर्मात्
नृपतिरपि भवान्द्राक् ब्रह्मतेजश्चिनोतु ।
भवतु भुवनमध्ये त्वन्महर्षित्वमारात्
ध्रुवमपि दिवि वासस्तेऽक्षयेध्रौव्यलोके ॥ ५० ॥

सत्यवती चाथर्वणश्च जगत्यामार्यत्वं जयतु शुभचारित्रपरता
समुल्लङ्घ्यप्रेयो विदधतु जना श्रेयसि रुचिम् ।
समृद्धिर्विज्ञाने भवतु जगतः शान्तिसुखदा
दिगीशानां हर्षं दिशतु भवतोः श्लोकमहिमा ॥ ५१ ॥

लोपामुद्रागस्त्यौ　देव विश्वमित्र ! भूयः किन्ते करवावः ।

स्वपूर्वजानां पुण्यैस्त्वं विश्वाराड्य राजसे ।
शस्त्रशास्त्रसमायुक्तो महिषीशो महीश्वरः ॥ ५२ ॥

तथाप्यावाभ्यामपि कोऽप्युपकारस्ते करणीयः स्यात् ।

कौशिकः　श्रीभगवन्तौ !

आबाल्यात्परिरक्षितौ स्वतपसा सम्वर्द्धितौ रक्षितौ
तातस्यापि दिवङ्गतस्य समयाद्राज्यप्रबन्धः कृतः ।
शत्रूणामपि बागुरानिपतितं भूयोऽहमुद्धारितः
विद्याभिः समलङ्कृतौ च सहितौ राज्ये समावेशितौ ॥ ५३ ॥

तथापीदमपि स्यात् ।

समत्वं देवानां मनुजदनुजानाञ्च मिलनम्
विभूतिर्विश्वेषां निजनिजरुचेः पूरणकरी ।

दयामैत्रीमोदाव्यवहृतिपदं यान्तु सुखदा
जनः सर्वो सर्वोदयमभिलषेत् प्रेमसहितम् ॥ ५४ ॥

सर्वे एवमस्तु ।

निष्क्रान्ताः सर्वे

इति श्रीकृष्णशुक्लज्योतिर्विदविद्याभूषणधर्माचार्यप्राड्विवाकविरचिते
कृतार्थकौशिके नामनाटके षष्ठोऽङ्कः ।

सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥